गांधी-मार्ग



मृत्यु-भय से मुक्ति

जुलाई-अगस्त 2020

○ महात्मा गांधी ○ हजारीप्रसाद द्विवेदी ○ जूलियो फ्रांसिस रिबेरो
○ डॉ. अभय बंग ○ हूबनाथ ○ लीयू छ्युन चेन ○ सूरज येंगड़े ○ कुमार प्रशांत



सत्यमेव जयते
राजस्थान सरकार

#राजस्थान_सतर्क_है

"सभी की सुरक्षा के लिए राज्य में आगन्तुक हैल्थ प्रोटोकॉल की पालना करें"

अशोक गहलोत, मुख्यमंत्री

राजस्थान आने वाले तथा उनके स्थानीय परिजन ध्यान दें

- राज्य में आने वाले लोगों को आने से पहले ई-मित्र (eMitra) मोबाइल ऐप अथवा www.emitra.rajasthan.gov.in पोर्टल पर राजस्थान आने के लिए अपनी यात्रा के साधन जैसे- हवाई/रेल/सड़क मार्ग, तिथि, समय, होम/संस्थागत क्वारंटीन विकल्प एवं स्थान संबंधी सूचना देनी होगी। जिससे उन्हें जरूरत होने पर तत्काल चिकित्सकीय सहायता दी जा सके।
- विदेश से आने वालों को पहले 7 दिन तक भुगतान आधारित संस्थागत क्वारंटीन तथा अगले 7 दिन होम क्वारंटीन में रहना अनिवार्य है।
- अन्य राज्यों से आने वाले आगन्तुकों को घर पर सुविधा होने पर 14 दिन के लिए होम क्वारंटीन अन्यथा संस्थागत क्वारंटीन में रहना अनिवार्य है।

अन्य राज्यों से 7 दिन से कम समय के लिए आने वालों के लिए सूचना

- आगमन से 2 दिन पहले करवाये गये कोरोना टेस्ट की नेगेटिव रिपोर्ट साथ लाने पर होम क्वारंटीन जरूरी नहीं होगा तथा वापसी यात्रा भी अनुमत रहेगी।
- जिन्होंने राजस्थान आने से पहले टेस्ट नहीं करवाया है उन्हें आने पर तत्काल टेस्ट कराना होगा एवं रिपोर्ट आने तक होम क्वारंटीन में रहना होगा। रिपोर्ट नेगेटिव आने पर क्वारंटीन आवश्यक नहीं होगा एवं वह अपना कार्य पूर्ण कर वापस लौट सकेंगे।
- **होम क्वारंटीन निर्देशों का उल्लंघन करने वालों को संस्थागत क्वारंटीन में रखा जाएगा एवं कानूनी कार्यवाही भी की जाएगी।**

राजस्थान से बाहर के लिए हैल्पलाइन 18001806128	राज्य हैल्पलाइन 181

सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, राजस्थान

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक

वर्ष 62, अंक 4, जुलाई-अगस्त 2020



गांधी शांति प्रतिष्ठान

आवरण : जीवन की मस्ती : झाल की धुन पर नाचती राजस्थानी शैली की यह कृति उस मस्ती को जीवंत करती है जो मौत का अंधकार काटने की ताकत रखती है। चित्रकार हैं ए. जे. मौजान

वार्षिक शुल्क : भारत में 200 रुपये, दो वर्ष के 350 रुपये, आजीवन-1000 रुपये (व्यक्तिगत), 2000 रुपये (संस्थागत), एक प्रति का मूल्य 20 रुपये, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। अपना शुल्क चेक, बैंक ड्राफ्ट, मनीऑर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें। ऑनलाइन भुगतान के लिए केनरा बैंक खाता नं. 0158101030392; IFSC CODE : CNRB 0000158.

संपादन : कुमार प्रशांत **प्रबंध :** मनोज कुमार झा **प्रसार :** भगवान सिंह

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002 के लिए अशोक कुमार द्वारा प्रकाशित

फोन : 011-2323 7491, 2323 7493,

Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : नीता प्रेस, 3574- गली जटवारा, नियर सबलोक क्लीनिक, दरियागंज, दिल्ली-110002, फोन नं. 8800646548

दस्तावेज

मृत्यु-भय से मुक्ति

○ महात्मा गांधी

दुनिया भर में कोविड-19 यानी मौत की एक आंधी बह रही है। मृत्यु को इतने निकट से जीना मानवता के लिए एक नया ही अनुभव है। इसमें हमारे चारित्र्य की रोज ही परीक्षा हो रही है— कितना सार है इसमें और कितना कूड़ा, सब सामने आ रहा है।

गांधी जीवन और मृत्यु के बीच एक पुल बनाते हैं और कहते हैं कि इसके एक छोर पर जीवन का आनंद है तो दूसरे छोर पर मृत्यु के भय से मुक्ति!

मैं स्वराज्य की व्याख्याएं एकत्र कर रहा हूं। उनमें एक व्याख्या यह भी है— मृत्यु के भय का त्याग! जिस देश के लोग मृत्यु के भय से भीत रहते हैं, वे न तो स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं और न उसे संभाल ही सकते हैं। अंग्रेज लोग तो मौत को जेब में लिये घूमते हैं, अरब और काबुली भी मरण को एक मामूली अलामत समझते हैं। जब उनके यहां कोई मर जाता है तब वे रोते-पीटते नहीं। बोअर-स्त्रियां तो जानती ही नहीं थीं कि मरण का भय क्या चीज है। बोअर-युद्ध के समय हजारों बोअर-युवतियां विधवा हो गईं पर उन्होंने इसकी कुछ परवाह न की। उन्होंने अपने दिल को समझाया कि मेरे पति या पुत्र मर गए तो क्या हुआ, मेरे देश की इज्जत तो कायम रही! यदि देश गुलाम हो जाता तो पति के रहने से भी क्या होता? अपने गुलाम बेटे की परवरिश करने की अपेक्षा तो उसकी लाश को कब्र में दफना देना और उसकी आत्मा को याद करते रहना ही अच्छा है। इस तरह धीरज रखकर असंख्य बोअर-रमणियों ने अपने प्रियजनों का बिछोह सहा।

ये उन लोगों के उदाहरण हैं जो खुद तो मरते ही हैं, दूसरों को भी मारते हैं। परंतु जो लोग मारते नहीं सिर्फ मरते-भर हैं, उनका क्या पूछना! ऐसों की तो संसार पूजा करता है। ऐसों की बदौलत देश का उत्कर्ष होता है। अंग्रेज और जर्मन, दोनों आपस में लड़े। दोनों ने मार मारी और मार खाई। फल यह हुआ कि शत्रुता बढ़ गई, अशांति बढ़ गई और आज यूरोप की दशा दयनीय हो गई है। पाखंड की वृद्धि हुई है और वे एक-दूसरे को फांसने का प्रयत्न कर रहे हैं। परंतु जिस मृत्यु-भय को छोड़ने का अथक प्रयत्न हम कर रहे हैं वह तो एक शुद्ध यज्ञ है और उसके द्वारा हम, थोड़े ही समय में, बड़ी भारी विजय प्राप्त करने की आशा रखते हैं।

जगत में उत्पत्ति और क्षय पल-पल पर होती ही रहती है, हम क्यों खुशियां मनाएं और क्यों शोक करें?

जब हमें स्वराज्य मिल जाएगा तब या तो हममें से अधिकतर लोगों ने मौत का डर छोड़ दिया होगा अथवा हमें स्वराज्य ही न मिला होगा। अभी तक तो देश के ज्यादातर नौजवान ही मरे हैं। अलीगढ़ में जितने लोगों की जानें गई हैं वे सब 21 वर्ष से कम अवस्था वाले थे। उन्हें तो कोई जानता भी नहीं था। पर अब भी यदि सरकार खून-खराबा करने पर तुली ही हो तो मैं यह विश्वास किए बैठा हूं कि इस समय देश के प्रथम श्रेणी के किसी व्यक्ति की बलि होगी।

बालक, जवान या बूढ़े मरें, हम इससे भयभीत क्यों हों? कोई पल ऐसा नहीं जाता जब इस जगत में कहीं किसी का जन्म और कहीं किसी की मृत्यु न होती हो। पैदा होने पर खुशियां मनाना और मौत से डरना बड़ी मूर्खता है, यह बात हमें सदा ही अनुभव करनी चाहिए। जो लोग आत्मवादी हैं— और हममें कौन ऐसा हिंदू, मुसलमान या पारसी होगा जो आत्मा के अस्तित्व को न मानता हो— वे जानते हैं कि आत्मा कभी मरती नहीं। यही नहीं, जीवित और मृत, समस्त प्राणी एक ही हैं, उनके गुण भी एक ही हैं। इस दशा में, जब कि जगत में उत्पत्ति और क्षय पल-पल पर होती ही रहती है, हम क्यों खुशियां मनाएं और क्यों शोक करें? सारे देश को यदि हम अपना परिवार मानें— यदि हमारी भावना इतनी व्यापक हो— और देश में जहां-कहीं किसी का जन्म हुआ हो उसे हम अपने ही यहां हुआ मानें तो फिर आप कितने जन्मोत्सव मनाएंगे? देश में जहां-जहां मृत्यु हो उन सबके लिए यदि हम रोते रहें तो हमारी आंखों के आंसू कभी सूखेंगे ही नहीं, यह सोचकर हमें मृत्यु का डर छोड़ ही देना चाहिए।

प्रत्येक भारतवासी अधिक ज्ञानी, अधिक आत्मवादी होने का दावा करता है। तिस पर भी मौत के सामने जितने दीन हम हो जाते हैं उतने और लोग शायद ही होते हों। और उसमें भी मेरा ख्याल है कि हिंदू लोग जितने अधीर हो जाते हैं उतने भारत के दूसरे लोग नहीं होते। अपने यहां किसी का जन्म होते ही हमारे घरों में आनंद-मंगल उमड़ पड़ता है, कोई मर जाता है तब इतना रोना-पीटना मचता है कि आसपास के लोग हैरान हो जाते हैं। यदि हम स्वराज्य लेना चाहते हैं और अपने को उसके योग्य सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें मृत्यु का भय बिलकुल छोड़ ही देना चाहिए।

और जो मनुष्य मृत्यु का भय छोड़ देगा उसे जेल का भय क्यों कर होगा? पाठक यदि विचार करेंगे तो उन्हें मालूम हो जाएगा कि स्वराज्य-प्राप्ति में हमें जो विलंब हो रहा है उसका एकमात्र कारण है– हम लोगों में मृत्यु तथा उससे हल्के दुखों को सहने की शक्ति का अभाव।

ज्यों-ज्यों अधिकाधिक निरपराध मनुष्य जान-बूझकर मौत को गले लगाने के लिए तैयार होते जाएंगे, दूसरे लोगों का बचाव होता जाएगा और दुख भी कम होता चला जाएगा। जो दुख खुशी के साथ सहन किया जाता है वह दुख नहीं रहता बल्कि सुख हो जाता है। जो दुख से जी चुराता है वह बहुत कष्ट उठाता है और संकट के उपस्थित होने पर निर्जीव-सा हो जाता है। जो आनंद के साथ दुख का स्वागत करने के लिए पैर बढ़ाता है उसे वह आरंभिक दुख, जो केवल दुख की कल्पना से ही उत्पन्न होता है, कैसे हो सकता है? आनंद पीड़ा पर क्लोरोफार्म का काम करता है।

आनंद पीड़ा पर क्लोरोफार्म का काम करता है।

इस विषय पर इस समय जो मुझे इतना लिखना पड़ा सो इसलिए कि यदि "हमें इसी वर्ष स्वराज्य प्राप्त करना हो तो मृत्यु का विचार भी कर लेना होगा।" जो लोग पहले से तैयारी कर रखते हैं वे आपत्ति से बच जाते हैं, हमारे विषय में भी ऐसा हो सकता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्वदेशी-आंदोलन हमारी ऐसी ही पेशबंदी है। यदि इसमें हमारी फतह हो गई तो मैं समझता हूं, सरकार को अथवा और किसी को हमारी अग्नि-परीक्षा की आवश्यकता ही न रहेगी।

परंतु इतना होने पर भी, यह आवश्यक है कि हम गफलत में न रहें। सत्ता अंधी और बहरी होती है। वह अपने बिलकुल पास की घटनाओं को भी नहीं देख पाती। अपने काम के पास का कोलाहल भी वह नहीं सुन सकती। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि जो सरकार मदोन्मत्त है वह

क्या नहीं कर बैठेगी। इसलिए मेरे मन में यह ख्याल उठा कि अब देश-सेवकों को मृत्यु, जेल अथवा दूसरी आपत्तियों का एक मित्र की तरह स्वागत करने की तैयारी रखनी चाहिए।

एक शूरवीर जिस प्रकार हंसते हुए मृत्यु का स्वागत करता है उसी प्रकार वह सावधान भी रहता है। शांतिमय संग्राम में तो गफलत के लिए गुंजाइश ही नहीं है। जो नीति और सदाचार के विरुद्ध हैं, हम ऐसे अपराध करके न तो जेल जाना चाहते हैं और न फांसी पर ही लटकना चाहते हैं। हमें तो सरकार के अन्यायपूर्ण कानूनों का सामना करते हुए बलिदान होना है।

(नवजीवन, 14 अगस्त, 1921)

*

कोरोना-काल

आज गांधी होते तो क्या करते

० डॉ. अभय बंग

जो नहीं होता है उसके होने की आकांक्षा कितनी बार मन में उठती है। और फिर एक अफसोस मन में तिरता रहता है। लेकिन गांधी के साथ ऐसा नहीं है। हम जैसी भी परिस्थिति में, जितनी बार उनके पास जाते हैं, वे कोई-न-कोई जवाब देकर ही हमें विदा करते हैं। वे कुछ भी अनसुना नहीं करते हैं, कुछ भी अनुत्तरित नहीं छोड़ते हैं

कोविड महामारी से मार खाती दुनिया यह न भूले कि उसका संकट इकहरा नहीं बल्कि तिहरा है– कोविड तो है ही; वह गहन, व्यापक आर्थिक मंदी से घिरी हुई है; और मानव-अस्तित्व को खतरे में डालने वाला पर्यावरणीय संकट रोज सुरसा की तरह अपना आकार बड़ा करता जा रहा है। ऐसी जटिल परिस्थिति में राह दिखाने वाले राजनीतिक व नैतिक नेतृत्व का दुनिया भर में अभाव है। फिर उत्तर तो कहीं और ही ढूंढना पड़ेगा।

एक तरीका हमारा यह है कि हम पूछ बैठते हैंः महात्मा गांधी के सामने ऐसी चुनौती होती तो वे क्या करते? कैसे इसका जवाब दिया जाए? कौन कह सकता है कि उसे मालूम है कि गांधीजी का जवाब क्या होता? वह तो गांधी ही कह सकते हैं! खुद वे कह ही गए हैं : “मेरा जीवन ही मेरा संदेश है!” तो उत्तर उनके जीवन में खोजना पड़ेगा।

उनके उत्तर में कुछ विशेषताएं तो समान ही होंगी। पहली तो यह कि दूसरों को उपदेश देने की बजाय वे स्वयं अपनी बात पर आचरण करते। तभी तो आत्मश्लाघा प्रतीत हो ऐसा वाक्य “मेरा जीवन ही मेरा संदेश है”- वे बोल पाए! हम ऐसा बोल सकते हैं क्या? बोल कर तो देखिए, जबान लड़खड़ाएगी।

दूसरा यह कि वे जो कुछ भी करते, पहले स्थानीय स्तर पर करते। दुनिया बदलने के लिए दुनिया के पीछे नहीं भागते। मिट्टी के एक कण में सारी पृथ्वी देख सकने वाली दृष्टि थी उनके पास। मैं जहां हूं वहीं मेरा 'स्व-देश' है। मेरा कार्य यहीं से आरंभ होगा क्योंकि मैं एक मानव, सिर्फ वहीं से कार्य कर सकता हूं जहां मैं हूं। तीसरा यह कि आरंभ में उनका कार्य मामूली या बचकाना लग सकता है, जैसे मुट्ठीभर नमक उठाना या सूत कातना। लेकिन जरा रुकिए, इन बचकाने कदमों से इतिहास बदलते देखा है न हमने!

'आप होते तो क्या करते?' - मैंने भी ऐसा ही 'विचार-प्रयोग' किया और मुझे उनसे जो नौ सूत्री कार्यक्रम मिला, वह आपके सामने रखता हूं :

1. भयमुक्ति : आज विषाणु की अपेक्षा विषाणु का भय अधिक है। गांधी सबसे पहले कहते 'निर्भय बनो'! डर मनुष्य को शक्तिहीन बनाने वाला घातक भाव तो है ही, इस विषाणु की वजह से होने वाली मृत्यु की संभावना हमारी आबादी में बेहद कम है। फिर इसका हौआ खड़ा करने की जरूरत नहीं है। फिर उनका आखिरी तर्क होता मृत्यु का कैसा भय? किसे मरना है? शरीर को; आत्मा तो अमर है। तुम शरीर नहीं, आत्मा हो। तुम थोड़े ही मरोगे? भय काल्पनिक असत्य का दूसरा नाम है। यह समझ लोगे तो भय पिघलकर लुप्त होने लगेगा।

2. रुग्णसेवा : रोगियों की सेवा गांधीजी की सहज प्रवृत्ति थी। बोअर युद्ध, प्रथम विश्वयुद्ध, भारत में महामारियों के दौरान, कुष्ठरोग के शिकार विकलांग परचुरे शास्त्री को अपनी कुटिया के करीब रखकर स्वयं उनकी सुश्रूषा- कितने ही उदाहरण हैं। कोरोनाग्रस्त रोगियों की देखभाल वे स्वयं करते! पूर्ण स्वच्छता रखते हुए, हाथ धोते हुए, मुंह पर मास्क जैसे सभी वैज्ञानिक निर्देशों का सटीक पालन करते हुए कोरोना के रोगियों की प्रत्यक्ष सेवा करते गांधी की छवि मेरे सामने खड़ी हो जाती है।

स्वतंत्र भारत के उपयुक्त चिकित्सा-पद्धति तथा स्वास्थ्य-व्यवस्था की खोज में वे 1946 में पुणे के करीब के उरलीकांचन गांव में रहते हुए प्रयोग करने लगे थे। डॉक्टरों और दवाइयों पर निर्भर रहने की अपेक्षा उनकी खोज थी कि कैसे लोग चिकित्सा के मामले में आत्मनिर्भर हों एवं स्वास्थ्य-स्वातंत्र्य प्रदान करने वाली पद्धति सस्ती और सहज हो। वे आज भी अपने उसी प्रयोग को आगे बढ़ाते। उनका भरोसा शरीर में रोग प्रतिरोध की नैसर्गिक क्षमता पर था। उसे ही वे प्राकृतिक चिकित्सा कहते थे। वे आज हमसे कहतेः 'प्रकृति को वक्त तो दो! ' कोरोना संक्रमण की चपेट में आए अधिकांश मरीज अपने-आप ठीक होते हैं। अतः गांधीजी की प्रकृति को वक्त देने की पद्धति उचित ही सिद्ध होती। गंभीर मरीजों की बात छोड़ें तो आज भी कोविड के लिए यही पद्धति सर्वथा योग्य है। हम देख ही रहे हैं कि आज की चिकित्सा-व्यवस्था कोविड के लिए आवश्यक सेवा-आपूर्ति में असमर्थ साबित हो रही है। तब

निरोगी जीवन-शैली का गांधीजी का आग्रह, अपना स्वास्थ्य स्वयं संभालने की मानवीय क्षमता और यथासंभव अपने ग्रामसमूह में ही उपचार की सुविधा का रास्ता ही हमारे पास बचता है। इसे हम 'आरोग्य-स्वराज्य' कह सकते हैं। कोविड महामारी का सर्वोत्तम उत्तर है– 'आरोग्य-स्वराज्य'। अत्यंत गंभीर मरीजों को महात्मा गांधी ने भी अस्पताल भेजा ही होता। व्यसनों का उनका विरोध तो जगजाहिर है। व्यसन-मुक्त जीवन-शैली कोरोना के खिलाफ प्रभावी उपाय तो होती ही, दूसरी बीमारियों और मृत्यु-दर में भी कमी करती।

3. दूसरी दांडी यात्रा : संसार का कर्त्तव्यबोध जगाने के लिए उनका दिया 'जंतर' तो अब जगप्रसिद्ध हैः 'तुमने अपने जीवन में अब तक जो सबसे दुखी, सबसे निर्बल आदमी देखा हो, उसे याद करो। वही तुम्हारा कर्त्तव्य है।' गांधी किसका चुनाव करते? बहुत दूर जाकर खोजने की जरूरत नहीं है, वे अपने सामने की सड़क देख लेते जिस पर उन्हें मिलते करोना के चलते लादी गई संपूर्ण तालाबंदी की वजह से शहरों से बेजार और बेकार होकर अपने गांवों को लौटते लाखों लोग; जिनके लौटने के साधन तक शासन ने बंद कर दिए, हज़ारों किलोमीटर पैदल चलने को मजबूर इंसानों के झुंड-के-झुंड! भूखे-प्यासे, थके, पैदल चलते ये मजदूर ही होते गांधीजी के जंतर। वे दिल्ली छोड़ कर इन विस्थापितों के बीच चले जाते। इनके भोजन, दवाई, आसरा की व्यवस्था करने में जुट जाते। और इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण काम वे यह करते कि इनका आत्मसम्मान और इनकी उम्मीद जिंदा रखते। मुझे यकीन है कि विस्थापित मजदूरों के प्रति एकरूपता जताने और सरकार की क्रूर गैर-जिम्मेदारी के विरोध में वे आज विस्थापितों के साथ करते होते एक दूसरी दांडी यात्रा।

4. धार्मिक व सामाजिक एकता : गांधीजी के जीवन का यह अंतिम किंतु अधूरा रह गया कार्य है। भारत के हिंदुओं और मुसलमानों के बीच द्वेष व हिंसा की वजह से उन्हें मर्मांतक पीड़ा हुई। तब भी, जब कोरोना विषाणु हमारी दहलीज में दाखिल हो चुका था, हमारे कई नेता सांप्रदायिकता की आग लगाने में लगे हुए थे। दिल्ली के हिंदू-मुस्लिम दंगों से विभाजन-पूर्व भारत के हालात बनते दीख पड़ते हैं। यह द्वेष इतना अंधा हो चुका है कि भारत में कोरोना प्रसार का ठीकरा एक विशिष्ट धार्मिक पंथ की गलतियों पर फोड़ने का प्रयत्न किया गया। गलती तो सभी ने की। 31 जनवरी 2020 को ही कोरोना भारत में आ चुका था। उसके लगभग एक महीने बाद अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप के भव्य स्वागत के लिए अहमदाबाद में लाखों की भीड़ किसने जुटाई थी? हम तो गलतियां भी धर्म देख कर निकालते हैं। आज भारतीय समाज को खंडित करने में ही प्रतिष्ठा मानी जा रही है। ऐसी स्थिति में गांधी ने क्या किया होता?

गांधी ने इस समस्या को भी कोरोना विषाणु जितना ही महत्त्व दिया होता। सर्वधर्म समभाव तथा उपनिषद की 'ईशावास्यमिदंसर्वम...' कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, यह सच्ची भारतीय निष्ठा उन्होंने अपने प्रत्यक्ष आचरण से व्यक्त की होती। बिना किसी भेदभाव के लोगों की सेवा की होती। एक-दूसरे के मुहल्लों में सेवा करने के लिए लोगों को भेजा होता। प्रार्थना के लिए लोगों को एकजुट किया होता। सैकड़ों टुकड़ों में बिखरे भारतीय समाज में से एक समाज के निर्माण का प्रयत्न किया होता- हो सकता है कि इससे उनकी दूसरी बार हत्या का खतरा होता। तो गांधी खतरे तो मोल लिया करते थे!

5. मेरा पड़ोसी मेरी जिम्मेदारी : कोरोना ने आज सभी को अकेला कर दिया है। लोग आपसी संपर्क से बच रहे हैं, एक-दूसरे को टाल रहे हैं। संपर्क ही नहीं रहा तो पड़ोस कैसा? और पड़ोस ही नहीं रहा तो कैसी सामूहिकता, कैसा समाज? मुझे तो लगता है कि गांधी होते तो मौजूदा शासकीय और सामाजिक पाबंदियों को सर्वथा नकार कर निकल आए होते। पड़ोसी की सेवा करना मेरा धर्म है, ऐसा सत्याग्रह उन्होंने किया होता। उन्होंने कहा होता कि मजबूत स्थानीय संबंधों के अभाव में राष्ट्र निर्माण संभव नहीं है। ऐसी नैतिक भूमिका के लिए ही तो किसी गांधी की आवश्यकता होती है। संक्रमण रोकने का पूरा ख्याल रखते हुए उन्होंने पड़ोसियों की देखभाल शुरू कर दी होती। यह शुरू होता तो अनायास बन गई भ्रम की चादर हटने लगती और हमें स्पष्ट दिखाई पड़ता कि महामारी का डर और सरकार की नीतियों ने इंसान को इंसान से दूर हटा कर किया क्या? कोरोना का प्रसार तो नहीं थमा। हां, हर व्यक्ति अस्पृश्य जरूर हो गया।

6. गलतियों का स्वीकार : कोरोना महामारी का सामना करते हुए वर्तमान नेतृत्व ने अनेक गलतियां की हैं। जनवरी-फरवरी में जब कोरोना महामारी विदेश में खुल कर खेल रही थी, 40 लाख प्रवासियों को हवाई मार्ग से भारत आने दिया गया। इनमें से सिर्फ 38,000 लोगों का ही कोरोना परीक्षण किया गया। कोरोना इसी दरवाजे से भारत में घुसा। इन 40 लाख लोगों को सुव्यवस्थित तरीके से अलग-थलग करने की प्रभावी योजना बनाने की जगह 138 करोड़ लोगों को तालाबंदी की सजा दे दी गई। कोरोना के विरुद्ध इस युद्ध में जागतिक और राष्ट्रीय नेतृत्व ने अपने घोषित उद्देश्य बार-बार बदले– विषाणु का प्रवेश असंभव बनाएंगे; वह नहीं हुआ तो कंटेनमेंट जोन बनाएंगे; वह विफल हुआ तो मरीजों की संख्या दोगुनी होने का समय बढ़ाना (डबलिंग टाइम), फिर मृतकों की संख्या सीमित रखना और जब कुछ भी नहीं कर सके तो 'अब कोरोना के साथ जीना सीखें' का नारा लगाना....हार गए तो उद्देश्य ही बदल कर जीतने का दावा जारी है।

एक सर्वथा नई बीमारी के बारे में समुचित ज्ञान और उपचार न होने से

निर्णय लेने में गलतियां स्वाभाविक हैं। लेकिन 'हमारी पद्धतियां असफल हुईं' यह ईमानदार स्वीकारोक्ति कहां है? गांधी होते तो सबसे पहले यह सत्य जाहिर करते। जनता से सच बोलना लोकतंत्र का आधार भी है और शासन का धर्म भी। 'हिमालय जैसी गलती मुझसे हुई है', जैसी स्वीकारोक्ति उन्होंने की और हर बार जनता का उन पर विश्वास गहरा होता गया। आज शासन ने भी ऐसा किया होता तो लोगों का उस पर विश्वास बढ़ा ही होता।

7. स्थानीय स्वराज : वुहान में एक विषाणु पैदा हुआ और वैश्विक अर्थव्यवस्था पर फिर से संकट आ गया। विशालकाय अर्थव्यवस्था ने दगा दे दिया। गांधी हमें याद दिलाते कि स्थानीय उत्पादन, स्थानीय उपभोग तथा परस्पर संबद्ध स्थानीय लघु समूह ही ज्यादा स्थायी, ज्यादा मानवीय व ज्यादा सशक्त अर्थतंत्र की रचना करते हैं। इसे वे 'ग्रामस्वराज' कहते थे। परावलंब आते ही आजादी खतरे में पड़ जाती है। गांधी हमें स्थानीय, यथासंभव स्वयंपूर्ण अर्थव्यवस्था सुझाते।

अर्थव्यवस्था में 'विशालकाय' की जगह पर 'स्थानीय' आता तो राजनीतिक व प्रशासनिक व्यवस्था में विकेंद्रीकरण आ जाता। वे हमसे कहते कि सोचो, 'ग्लोबलाइजेशन' के युग में सर्वत्र तानाशाही प्रवृत्ति के राजनेताओं का उदय क्यों हुआ? पूंजीवाद और उदारवाद द्वारा स्वतंत्रता के आश्वासनों के बावजूद इन नेताओं ने जन सामान्य तथा संचार-माध्यमों की स्वतंत्रता का हनन करते हुए लोगों को भयग्रस्त कर रखा है। किंतु कोविड महामारी ने जागतिक सत्ता-व्यवस्था और अर्थव्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। कोई भी केंद्रीय सत्ता हमें नहीं बचा सकती। वह सिर्फ झूठे दावे करती है, इसका अहसास अब हम सभी को हो गया है। गांधी हमें अहिंसक ढंग से, धीमे-धीमे इस महाकाय राक्षसी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को विकेंद्रित कर, छोटे-छोटे स्थानीय समूहों की मानवीय व्यवस्था की ओर ले जाते। सच्चे रिश्ते व खरा लोकतंत्र, इस बिना चेहरे वाली वैश्विक अर्थव्यवस्था की बजाय एक-दूसरे को जानने-पहचानने वाले स्थानीय मानव समुदायों के बीच ही फल-फूल सकता है।

8. आवश्यकता का विवेक : 'किंतु हमारी जरूरतों का क्या होगा?' आधुनिक समाज के विराट उत्पादन-तंत्र के कुछ उपभोक्ता जरूर यह सवाल पूछेंगे। गांधी उन्हें समझाते: कभी तुष्ट न होने वाली उपभोग की कामना, आठों पहर ऐंद्रिक उत्तेजना के माध्यम से सुख का छलावा देने वाली भोगेच्छा, यह तुम्हारी स्वाभाविक जरूरत न होकर कृत्रिम ढंग से रोपी गई अप्राकृतिक आदत है। विराट उत्पादन-व्यवस्था चलाने और बाजार को जिलाए रखने के लिए तुम्हारा अंतहीन उपभोग करते रहना जरूरी है। दरअसल तुम उपभोग नहीं कर रहे,

तुम्हारा उपभोग किया जा रहा है। पल भर रुक कर शांति से अपने भीतर झांको और पूछोः इनमें से कितने उपभोग तुम्हारे तन, मन, बुद्धि को निरोगी व सक्रिय रखने के लिए जरूरी हैं? और तुमने कितनी नकली आदतें पाल ली हैं? कितना लोभ तुम्हारे ऊपर लाद दिया गया है?

गांधी हमसे फिर से कहते : "यह धरती सभी की जरूरतें पूरी करने के लिए काफी है लेकिन लालच के लिए बहुत छोटी है।" जरूरत और लालच के बीच विवेक का सामर्थ्य, सबकी जरूरतें पूरी करने वाली किंतु लालच पर नियंत्रण रखने वाली समाज-व्यवस्था व नैतिकता का प्रशस्त मार्ग– गांधी हमें उधर लेकर जाते। याद कीजिए न, उन्होंने हमें स्वराज की व्याख्या क्या बताई थीः 'स्वतः का राज्य नहीं, स्वतः पर राज्य'।

जब हम विवेक से अपनी जरूरतों पर नियंत्रण करेंगे, तब हमें अहसास होगा कि आधुनिक समाज की अनेक अतियों के बावजूद जीवन आनंदमय हो सकता है। अनावश्यक उत्पादनों का पहाड़ और उनका अविवेकी उपभोग, उत्पादन करते रहने के लिए कारखानों के महाजाल, पागल प्रवास और तूफानी वाहन ये सब थमने लगेंगे। धूल और धुंआ कम होने लगेगा। आकाश और जलाशय फिर से साफ और नीले होने लगेंगे। कोविड काल की तालाबंदी के दौरान इसकी एक झलक हमने देखी ही है। और आश्चर्य, इसी के साथ ग्लोबल वार्मिंग में भी कमी आने लगेगी।

9. प्रार्थना : और अंत में गांधी जो खुद करते और हमें भी सुझाते, वह होती प्रार्थना! प्रत्येक दिन के अंत में, अपना सर्वोत्कृष्ट प्रयास करने के पश्चात थोड़ी देर शांत बैठिए। अंतर्मुख होइए, विनम्र बनिए और शरण जाइए। किसकी शरण? गांधी कहतेः इसके लिए आप स्वतंत्र हैं। ईश्वर, प्रकृति, जीवन, सत्य, काल, जो आपकी आस्था में हो, उसकी शरण जाइए। कम-से-कम गांधी तो ऐसा ही करते। जो-जो तुमसे संभव था वह सारा प्रयास तुमने किया। अब इसके आगे यह बोझ गधे के भांति ढोने की जरूरत नहीं है। मनुष्य को अपने कर्तृत्व और अपेक्षाओं का निरर्थक व घातक बोझ अपनी पीठ पर से उतारकर स्वतंत्र होना भी आना चाहिए। गांधी इसे ही शरणागति या प्रार्थना कहते हैं। विश्व के अनंत विस्तार के समक्ष अपने अहंकार और प्रयास की क्षुद्रता को पहचानें! अब उसकी मर्जी चलने दें यानी अंततः जो हो उसे स्वीकारें!

गांधी के लौटने की प्रतीक्षा की बजाय, वे आकर जो करते उसकी शुरुआत हमें कर देनी चाहिए।

(लेखक अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त डॉक्टर एवं गांधी-परिवार के सहयात्री हैं। ०अनुवादः प्रो. हूबनाथ पांडेय)

*

आईना

रंगभेदी गांधी?

○ कुमार प्रशांत

पत्थर की मूर्तियां लगाने से न श्रद्धा प्रकट होती है, न अमरत्व मिलता है; उन्हें ढहाने से न इतिहास बदलता है, न सच मिटता है। देश हो कि विदेश, महात्मा गांधी इन दोनों अतियों के शिकार हुए हैं; और अभी जब श्वेत अमरीका ने अपने अश्वेत नागरिक जॉर्ज फ्लायड की हत्या की तो अमरीका में भी और इंग्लैंड में भी महात्मा गांधी की मूर्तियों पर हमले हुए। दोनों जगहों पर नाराज अश्वेत प्रदर्शनकारियों ने गांधी-प्रतिमा पर लिख दियाः रेसिस्ट; रंगभेदी! इस विवेकहीन क्रोध को हमें भूल ही जाना चाहिए लेकिन इसमें निहित विवेकहीनता को उजागर भी कर देना चाहिए

मोहनदास करमचंद गांधी एक ऐसे अंतरराष्ट्रीय अपराधी हैं जिसने अपने हर अपराध का साक्ष्य इकट्ठा कर हमें सौंप दिया है। उनके खिलाफ जब भी हमें कुछ कहना या लिखना हो, उनकी ही किताबों की दुनिया में सैर करें और उन पर हमला करने के लिए जरूरी गोला-बारूद ले आएं। इसलिए हमें जब, जहां, जैसी जरूरत होती है तब, तहां, हम उसका इस्तेमाल कर, उन्हें सजा दे लेते हैं। सजा सुना दी जाती है, कभी दे भी दी जाती है और फिर ऐसा होता है कि हम खुद ही पूछते रह जाते हैं कि हमने यह क्या किया! गांधी हर बार किसी व्यक्ति या भीड़ के गुस्से के शिकार होते हैं; और वे ही हैं जो हमें बता गए हैं कि गुस्सा दूसरा कुछ नहीं, छोटी अवधि का पागलपन है।

पागलपन के ऐसे ही दौर में वे कभी दलितों को, तो कभी नारीवादियों को अपने खिलाफ लगते हैं; जिन्होंने कभी स्वतंत्रता की लड़ाई नहीं लड़ी उन्हें वे

साम्राज्यवादियों के दलाल लगते हैं; जिन्होंने देश-विभाजन रोकने के लिए कभी चूं तक नहीं की वे गांधी को देश-विभाजन का अपराधी बताते हैं; सांप्रदायिकता की बूटी खा-खा कर जिंदा रहने वाले उन्हें मुसलमानों का तुष्टीकरण करने वाला बताते हैं; कभी उन्हें क्रूर पिता व अन्यायी पति बताया जाता है। वे जब तक जीवित थे, तीर चलाने वालों की कमी नहीं थी। वे नहीं हैं तब भी तीरंदाज बाज नहीं आ रहे।

जिन्होंने देश-विभाजन रोकने के लिए कभी चूं तक नहीं की वे गांधी को देश-विभाजन का अपराधी बताते हैं; सांप्रदायिकता की बूटी खा-खा कर जिंदा रहने वाले उन्हें मुसलमानों का तुष्टीकरण करने वाला बताते हैं... वे जब तक जीवित थे, तीर चलाने वालों की कमी नहीं थी। वे नहीं हैं तब भी तीरंदाज बाज नहीं आ रहे।

अभी-अभी ऐसा ही हुआ। अमरीकी अश्वेत नागरिक जॉर्ज फ्लायड की दिन-दहाड़े हत्या हुई। हत्यारा एक श्वेत अमरीकी पुलिस अधिकारी था। अमरीकी पुलिस के हाथों प्रतिवर्ष 100 अश्वेत अमरीकी मारे जाते हैं। न सरकार चेतती है, न अदालत! लेकिन इस बार ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि अमरीका चेत गया! 'कालों का जीवन भी मतलब रखता है' जैसी चीख के साथ पूरा अमरीकी समाज खौल उठा– सभी प्रांतों के, सभी रंग के अमरीकी सड़कों पर उतरे। यह चीख यूरोप के दूसरे देशों में भी फैल गई। बहुत दिनों के बाद रंगभेद के खिलाफ सभी रंगों की मिली-जुली इतनी बड़ी ललकार सुनाई दी! गांधी होते तो ऐसे प्रतिवादों में सबसे आगे दिखाई देते... लेकिन यहां तो वे भू-लुंठित दिखाई दिए। प्रदर्शनकारियों ने उन सारे प्रतीकों पर हमला किया जिनने कभी रंगभेद को चालना दी, गुलाम-प्रथा का व्यापार किया, कालों को कमतर माना। तो कई बुत तोड़े गए, कई पर कालिख पोती गई और सबको एक नाम दिया गया– रंगभेदी!! वाशिंग्टन डीसी में लगाई गई गांधीजी की प्रतिमा भी निशाने पर आई। उसका भी विद्रूप कर, उसे भी रंगभेदी की उपाधि दे कर उसका ऐसा हाल किया गया कि अमरीकी प्रशासन ने अपनी शर्म छिपाने के लिए उसे ढक दिया और यह आश्वासन भी दिया कि इसे ठीक कर जल्दी ही पुनर्स्थापित कर दिया जाएगा। किसी के कैसे भी अपमान से गुरेज न करने वाले राष्ट्रपति ट्रंप ने इसे अपमानजनक कह कर मान कमाने की कोशिश की! ऐसा ही इंग्लैंड में भी हुआ लेकिन थोड़े रहम के साथ! लंदन के पार्लियामेंट स्क्वायर पर लगी गांधी-प्रतिमा पर प्रदर्शनकारियों ने 'स्प्रे' कर दिया और उसकी सीढ़ियों पर 'रंगभेदी या रेसिस्ट' लिख दिया।

गांधी होते तो क्या करते या क्या कहते? वे कहतेः यह आग जली है तो

बुझनी नहीं चाहिए! वे कहतेः चलो, मैं भी चलता हूं; और वाशिंग्टन हो कि लंदन कि कहीं और, वे हर प्रदर्शन के आगे-आगे चल पड़ते लेकिन अनशन करते हुए चलते ताकि इसके भीतर जो हिंसा व लूट और मनमानी हुई उससे अपनी असहमति भी जाहिर करें और उसके प्रति सबको सचेत भी करें। और जब वे ऐसा करते तब कोई अनजाना कह बैठता कि यह आदमी तो जन-संघर्ष विरोधी है! फिर आप क्या करते? इतिहास के पन्ने पलटते और उसमें गांधी को खोजते, जैसे मैं खोज रहा हूं कि गांधी रंगभेदी थे यह बात कहां से आई है?

दक्षिण अफ्रीका पहुंचे बैरिस्टर गांधी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति मोहग्रस्त हैं। उन्हें लगता है कि यह न्यायप्रिय और उदार साम्राज्य है, जिसकी हम भी प्रजा हैं तो साम्राज्य पर आया हर संकट हमारा अपना संकट है और हमें उसमें साम्राज्य की मदद करनी चाहिए। इसलिए बैरिस्टर साहब बोअर-युद्ध में घायलों की तिमारदारी के लिए उतरते हैं। जब बोअर लड़ाई में अंग्रेजों की अपेक्षा से ज्यादा भारी पड़े तो अंग्रेजों के अनुरोध पर गांधी अपनी टोली लेकर युद्धभूमि में भी उतरे। जंगे-मैदान से घायलों को निकालकर ले जाते रहे और कई मौकों पर 20-25 मील की दूरी पर स्थित चिकित्सा-केंद्र तक घायलों की डोली पहुंचाते रहे। इस प्रयास से उन्हें मिला क्या? 'आत्मकथा' में गांधी लिखते हैंः "मैं समझ पाया कि यह न्याय का नहीं, कालों को दबाने का युद्ध है। मेरे इस प्रयोग से हिंदुस्तानी कौम अधिक संगठित हो गई, मैं गिरमिटिया हिंदुस्तानियों के अधिक संपर्क में आया। गोरों के व्यवहार में भी स्पष्ट परिवर्तन दिखाई दिया।"

दूसरा मौका आया जुलू विद्रोह के वक्त। अब तक गांधी बहुत प्रौढ़ हो चुके थे। उन्होंने फिर इंडियन एंबुलेंस टोली का गठन किया। आरोप यह है कि यह गोरे इंग्लैंड के प्रति उनका पक्षपात था। लेकिन सच यह है कि उनका यह कदम बोअर-युद्ध के अनुभवों में से निकला था। उन्होंने देख लिया ता कि श्वेत डॉक्टर व नर्सें व अस्पताल के दूसरे लोग काले घायलों को हाथ लगाने को तैयार नहीं थे। इसलिए गांधीजी ने इसकी तरफ ध्यान दिलाया और इंडियन एंबुलेंस टोली को घायल जुलू विद्रोहियों की देखभाल का ही काम मिला। गांधी-टोली ने जिस तरह घायल जुलुओं की सेवा की उसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई और एक-दूसरे की भाषा न जानने वाले जुलुओं ने भी अपनी

1948 में उनकी हत्या के बाद जो श्रद्धांजलियां आईं उनमें एक नाइजीरिया-कैमरून की तरफ से भी थी जिसमें कहा गया था कि "संसार के सारे दलितों-वंचितों की स्वतंत्रता की मशाल का वाहक नहीं रहा!" यह अश्वेतों-अफ्रीकियों के दिल में प्रवेश किए बिना तो संभव नहीं हुआ होगा!

तरह से कृतज्ञता प्रकट की। यह इतिहास सामने रखो तो वे आरोप लगाते हैं कि गांधी जुलुओं के साथ मिलकर लड़े क्यों नहीं? अब आप दीवारों से बात तो नहीं कर सकते! इन दो प्रसंगों को छोड़ दें तो गांधी का रंग के साथ कभी बदरंग रिश्ता रहा ही नहीं।

तब दक्षिण अफ्रीका में दो शब्द प्रचलित थे– भारतीयों के लिए 'कुली' तथा अफ्रीकियों के लिए 'काफिर'। बैरिस्टर साहब भी कहीं-कहीं 'काफिर' शब्द का इस्तेमाल करते हैं लेकिन यह घृणा की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि उनका शब्द-भंडार बहुत छोटा है।

दक्षिण अफ्रीका की गांधी की लड़ाई रंगभेद के कारण नहीं थी। सवाल भारतीय नागरिकों के अधिकार का था। 1857 में आजादी की पहली संगठित कोशिश जो हमने की, उससे साम्राज्य के कान खड़े हो गए और रानी विक्टोरिया ने 1858 में अपने 'साम्राज्य की प्रजा के समान नागरिक अधिकारों की घोषणा' की थी। गांधी को लगता था कि यह घोषणा साम्राज्य का असली चेहरा है जिस पर कई कारणों से धूल पड़ गई है। एक बार धूल उड़ी तो चेहरा चमक आएगा। इसलिए वे इस बात पर जोर देते हैं कि रानी की घोषणा पर अमल हो। तब उनकी समझ थी कि रंगभेद रास्ते में पड़ा एक रोड़ा है जो रानी विक्टोरिया की घोषणा पर अमल की आंधी में खुद-ब-खुद उड़ जाएगा। भारतीयों की समस्याएं अलहदा थी, इसलिए आंदोलन भी अलहदा था। कालों को आंदोलन में साथ लेने का वहां कोई संदर्भ ही नहीं था। लेकिन गांधीजी अफ्रीकी लोगों से अपरिचित थे याकि उनकी समस्याओं से अनभिज्ञ थे, यह अत्यंत गलत धारणा है।

1893 में जब मोहनदास करमचंद गांधी नटाल बंदरगाह पर उतरे थे, उनकी उम्र 24 साल ही पूरी हुई थी, और 1914 में, जब वे अपना बोरिया-बिस्तर बांध कर भारत लौट रहे थे तब उनकी उम्र 45 छूने पर थी। इस बीच के 21 साल बीते उनके दक्षिण अफ्रीका में। ये 21 साल बैरिस्टर मोहनदास करमचंद गांधी के 'कर्मवीर गांधी' बनने के भी वर्ष हैं और बिखरे-सोये पड़े भारतीय-एशियाई समुदाय को लड़ने वाली जमात में बदलने के भी साल हैं; और यह भी हम न भूलें कि यह मानवीय इतिहास में लड़ाई के रंग-ढंग को भी बदलने के साल भी हैं। बनने-बनाने का यह दौर ऐसा चला कि 1948 में उनकी हत्या के बाद जो श्रद्धांजलियां आईं उनमें एक नाइजीरिया-कैमरून की तरफ से भी थी जिसमें कहा गया था कि "संसार के सारे दलितों-वंचितों की स्वतंत्रता की मशाल का वाहक नहीं रहा!" यह अश्वेतों-अफ्रीकियों के दिल में प्रवेश किए बिना तो संभव नहीं हुआ होगा!

बहुत पहले से लेकिन मुख्तसर देखें तो 1894 में 'इंडियन ओपीनियन' में गांधीजी का वह लेख मिलता है जो अफ्रीकी लोगों के समान मताधिकार की पैरवी करता है। 1909-10 में वे दक्षिण अफ्रीका के संविधान की इसी आधार पर आलोचना करते हैं कि यह संविधान अपने अफ्रीकी नागरिकों के प्रति भेदभाव करता है। 1910 में ही हम दक्षिण अफ्रीका में उस गांधी से मिलते हैं कि जो अचानक ही निर्णय करता है कि अब से वह रेल के तीसरे दर्जे में ही सफर करेगा। 'यह क्या हुआ?' किसी ने पूछा तो जवाब मिलाः 'तीसरे दर्जे में सफर करने की कैसी भयानक स्थितियां हैं, उनका विवरण पढ़-पढ़ कर मैं तो सिहर जाता हूं। मैंने सोचा कि दूसरा कुछ नहीं कर सकता हूं तो कम-से-कम उस तकलीफ में हिस्सेदारी तो निभाऊं!' तो हम सब तीसरे दर्जे में बैठे गांधीजी को भारत में खोजते हैं जबकि वे दक्षिण अफ्रीका में ही, अफ्रीकियों के साथ एकरूप होने के लिए, उनके डिब्बे में जो जा बैठे तो फिर वहां से उठे ही नहीं। और 'तकलीफ में हिस्सेदारी' का सिद्धांत भी वहीं बना। हम पाते हैं कि कोई श्वेत दक्षिण अफ्रीकी यदि अश्वेत अफ्रीकियों के बारे में उदारता दिखाता है, उनकी पक्षधरता करता है तो गांधीजी उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे समाज के सामने लाते हैं। 18 मई 1908 को जोहानिसबर्ग की एक सभा में गांधीजी भावी दक्षिण अफ्रीका की एक तस्वीर खीचते हैंः "हम सभी जातियों-रेसेज- के लोग मिलकर यहां एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करेंगे जैसी दुनिया ने आज तक देखी नहीं है।"

वाशिंग्टन हो या लंदन या कहीं और, 'कालों का जीवन भी मतलब रखता है' वाली मुहिम को याद रखना चाहिए कि गांधी की मूर्तियां भले वे तोड़ें या न तोड़ें लेकिन गांधी को कभी न छोड़ें, क्योंकि गांधी के बिना स्वाभिमान की लड़ाई में वे मार भी खाएंगे और हार भी।

अफ्रीकियों के तब सबसे बड़े नेता थे जॉन ड्यूबे जो आगे चलकर अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष भी हुए। गांधीजी के साथ उनका अच्छा दोस्ताना था। गांधीजी के विकास के साथ-साथ यह दोस्ताना उनके गुणों के चाहकों में बदल गया। आज हम जिसे स्किल डेवलपमेंट कहते हैं, तब वह औद्योगिक कारीगरी का प्रशिक्षण कहलाता था और जॉन ड्यूबे काले युवाओं के लिए वैसे ही प्रशिक्षण का संस्थान चलाते थे— ओहलांगे इंस्टीट्यूट। जॉन ड्यूबे का यह इंस्टीट्यूट गांधीजी के फीनिक्स आश्रम के पास में था और दोनों के बीच खूब आवाजाही थी। दोनों एक-दूसरे के परिसर का सुविधानुसार इस्तेमाल भी करते थे। 1912 में, जब श्री गोपालकृष्ण गोखले

गांधीजी से मिलने व दक्षिण अफ्रीका का उनका काम देखने वहां पहुंचे थे तब गांधीजी उन्हें खास तौर पर जॉन ड्यूबे से मिलवाने ले गए थे। ड्यूबे साहब ने गोखले के सम्मान में कुछ भी उठा नहीं रखा था। मुलाकात के बाद ड्यूबे साहब की पत्रिका में इसका जो विवरण छपा उसमें गांधीजी को इस बात के लिए धन्यवाद दिया गया था कि उन्होंने 'इतनी बड़ी शख्सियत' से हमें मिलवाया, साथ ही यह भी कहा गया था कि आप स्वयं ही 'अप्रतिम गुणों' से भरपूर हैं।

अफ्रीकियों को जमीन की मालिकी का अधिकार मिले इसकी जद्दोजहद पर गांधीजी की नजर थी और 1905 में जब ट्रांसवाल की सर्वोच्च अदालत ने इसके पक्ष में फैसला दिया तो गांधीजी ने इस फैसले का खुल कर समर्थन किया और 1908 में जब वे जेल से छूटे तो उन्होंने ओलिव श्रेनियर का एक लेख अपनी पत्रिका में फिर से प्रकाशित किया जिसमें अश्वेतों के समान नागरिक अधिकारों की बात की गई थी। 1909 में उन्होंने राज्य की हिंसक चालाकी से सबको सावधान करने वाला एक लेख लिखाः "वह दिन करीब आता जा रहा है जब हमारी किसी की भी, चाहे हम काले हों या गोरे, कोई सुनवाई नहीं होगी। इसलिए यह और भी जरूरी हो गया है कि हमारी लड़ाई सत्य पर आधारित हो। सत्य की आध्यात्मिक ताकत को कोई झुका नहीं सकता, सत्याग्रह के इस अहिंसक व्यवहार को मानते हुए हमें संघर्ष में उतरना होगा।"

तब एक सरकारी आदेश था कि हर अफ्रीकी महिला को 'अपना पास' साथ ही रखना पड़ता था। इधर नया पास जारी करने पर रोक भी लगी हुई थी। 1913 में इसके खिलाफ एक बड़ा आंदोलन उठा तो गांधीजी ने उसको खुला समर्थन दिया और तभी यह भी घोषणा की कि जब तक यह आंदोलन अहिंसक रहेगा, उनका समर्थन जारी रहेगा।

बैरिस्टर साहब गिरफ्तार होकर पहली बार जब जेल पहुंचे तो उन्हें यह बात नागवार गुजरी कि उन्हें जुलू लोगों के साथ एक ही वार्ड में रखा गया है। यह एतराज रंगभेद की वजह से नहीं था। जेल में दो वर्ग होते ही हैंः अपराधी कैदी और राजनीतिक कैदी! जेल मैनुअल भी यह फर्क करता है, अदालत भी और सरकार भी। आपातकाल के दौरान की 19 माह की अपनी जेल में हम भी यह मांग करते ही थे और प्रशासन भी चाहता था कि अपराधी व राजनीतिक बंदी अलग-अलग, अपने-अपने वार्डों में रहें। प्रशासन तो इसलिए भी हमारे बीच दूरी चाहता था कि कहीं हम अपराधियों का राजनीतिक शिक्षण न करने लगें। अलग वार्ड की गांधी की मांग भी इसी कारण थी, न कि रंगभेद के कारण। और जुलू अपराधियों के साथ एक ही सेल में रहने का अपना कड़वा अनुभव भी गांधी ने लिखा ही है कि एक बार जब वे शौचालय में थे तभी एक विशालकाय जुलू भीतर

घुस आया। उसने गांधी को उठाकर बाहर फेंक दिया और खुद फारिग होने लगा। तब दक्षिण अफ्रीका में दो शब्द प्रचलित थे— भारतीयों के लिए 'कुली' तथा अफ्रीकियों के लिए 'काफिर'। बैरिस्टर साहब भी कहीं-कहीं 'काफिर' शब्द का इस्तेमाल करते हैं लेकिन यह घृणा की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि उनका शब्द-भंडार बहुत छोटा है। समाज में प्रचलित शब्दों को पकड़कर अपना काम हम भी तो चलाते ही हैं न! यह उस 'नीग्रो' शब्द की तरह है जिस पर अमरीका में प्रतिबंध लगा हुआ है लेकिन जो चलन से बाहर नहीं हुआ है। लोग बोल-चाल में भी बोल जाते हैं तो कई अफ्रीकी लेखकों ने तो अपनी किताबों के शीर्षक में 'नीग्रो' शब्द का इस्तेमाल किया है।

अब गांधी भारत में हैं और 'महात्मा गांधी' कहे जाने लगे हैं। 22 जुलाई 1926 के 'यंग इंडिया' में वे लिखते हैं: "दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की न्याय की कोई भी लड़ाई तब तक सफल नहीं होगी जब तक वह स्थानीय लोगों से जुड़ कर नहीं लड़ी जाएगी। संघर्ष में सबका साथ आना जरूरी है।" गांधी का यह विराट स्वरूप बनते-बनते बना है। गांधी का भी विकास हुआ है, होता रहा है। लेकिन इस विकास-क्रम में वे रंगभेदी कभी नहीं रहे। इसलिए वाशिंग्टन हो या लंदन या कहीं और, 'कालों का जीवन भी मतलब रखता है' वाली मुहिम को याद रखना चाहिए कि गांधी की मूर्तियां भले वे तोड़ें या न तोड़ें लेकिन गांधी को कभी न छोड़ें, क्योंकि गांधी के बिना स्वाभिमान की लड़ाई में वे मार भी खाएंगे और हार भी। गांधी रास्ता भी हैं और उस राह पर चलने का संकल्प भी।

*

माधुरी और पुष्पा

○ महात्मा गांधी

कितना पारदर्शी व सरल, लालित्य से भरा कोई संस्मरणात्मक लेखन हो सकता है, इसका जैसे पदार्थ-पाठ ही है बापू का यह लेखन! ज्यादा नहीं आज से सिर्फ 99 साल पहले लिखा गया था

माधुरी और पुष्पा दोनों छह या सात वर्ष की लड़कियां हैं। तिलक स्वराज्य-कोष में दान लेने के लोभ से मैं एक परिवार में पहुंच गया।

परिवार के स्नेही स्त्री-पुरुषों से मैं घिरा हुआ बैठा था। इस बीच माधुरी धीरे-धीरे वहां आ पहुंची। मैंने उसे पास बुलाया। दुर्भाग्य से मुझे कुर्सी पर बिठाया गया था। इस परिवार में मेज-कुर्सी का इस्तेमाल एक सामान्य बात थी। कुर्सी पर बैठा हुआ मैं माधुरी को गोद में तो कैसे ले सकता था? मैंने उसे अपने निकट खींच लिया और उसके सिर को अपनी गोद में रख लिया। माधुरी धीमे स्वर में बोलीः "मैंने आपके साथ छल किया है।"

"मुझे तो बड़े लोग छलते हैं, बच्चे कभी नहीं छलते। तू मेरे साथ कदापि छल नहीं कर सकती।" मैंने हंस कर उत्तर दिया। मैं माधुरी की मुखमुद्रा ध्यान से देख रहा था।

"मैंने सचमुच आपको छला है, मैंने आपको सिर्फ डेढ़ रुपया ही दिया," माधुरी ने हिम्मत करके उत्तर दिया।

"तब तो मैं सचमुच छला गया! तू तो इतने सारे गहने पहने हुए है और मुझे केवल डेढ़ रुपया ही दिया? यह कहकर मैंने माधुरी के नन्हे से हाथ को अपने हाथ में ले लिया। उसकी चूड़ी मेरे हाथ में नाचने लगी। मैंने कहाः "अब तो तुझे प्रायश्चित करना ही चाहिए। नन्हे बच्चे बिलकुल निर्दोष होते हैं, वे किसी को छलते नहीं। प्रायश्चित करना अर्थात पाप धोना, मैल साफ करना। अब तो तुझे मैल अवश्य साफ करना चाहिए।"

"यह मैल अब कैसे धुल सकता है? सच तो यह है कि मैंने आपको छला है।"

"मैल साफ करने का सहज उपाय है। तू यह तो समझ ही गई है कि तुझे असल में गहने देने चाहिए थे; इसी से तूने मेरे साथ छल किया है। अब तो तू मुझे सारे गहने दे दे तो तेरा पाप धुल जाएगा।"

अभी तक तो माधुरी का मुख चमक रहा था, वह अब कुछ मलिन पड़ गया। मैं समझ गया और मैंने कहाः "बच्चों को गहनों से क्या लेना-देना? हम तो अपने काम द्वारा ही शोभा पा सकते हैं! गहने तो खो भी जाते हैं। बेहतर तो यह है कि उन्हें अच्छे काम के लिए दे दें। तू तो बहुत समझदार लड़की जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त तू गुनाह भी स्वीकार करती है। तुझे खुशी-खुशी सब गहने दे देने चाहिए। उनसे मैं गरीबों को चरखे दूंगा। तेरे जैसे बच्चों को पढ़ाऊंगा। तेरी जैसी अन्य लड़कियों ने भी अपने गहने दिए हैं," मैं रुका।

माधुरी के कानों में छोटे माणिक की दो लौंगें थीं। हाथ में सोने की दो चूड़ियां और एक कांच की चूड़ी थी। वह धीमे स्वर में बोलीः "मैं यह कांच की चूड़ी दूं तो क्या ठीक होगा?"

इस बच्चे को क्या उत्तर दूं? इसे अपने साथ ले जाकर इसे अपनी बेटी बना लूं? लेकिन मेरी तो ऐसी कितनी ही बेटियां हैं। फिलहाल तो मैं केवल कृपण बनिया हूं, लेना ही जानता हूंः इसलिए मैंने कहाः "तेरी कांच की चूड़ी को भी मैं पैसे में बदल दूंगा; लेकिन मुझे तो तेरे सारे गहने चाहिए। उन्हें देने में कौन-सी बड़ी बात है? एक तो तेरा पाप धुल जाएगा और मुझ जैसे का काम बन जाएगा। तेरे गहने स्वराज्य प्राप्त करने में हमारे काम आएंगे। क्या मुझे सब गहने नहीं देगी?"

"मैं अपनी सोने की चूड़ियां तो कतई नहीं दूंगी। लेकिन क्या आप (लौंगों की और संकेत करते हुए) यह लेंगे?"

"यह तो तूने ठीक कहा। लेकिन अगर तू मुझे अपनी चूड़ियां भी दे दे तो कितना अच्छा हो!"

माधुरी कुछ मुरझा-सी गई। मैंने उसे चूमा और कहा, "अच्छा ठीक है, मुझे अपनी लौंगें ही दे दे।"

माधुरी दौड़ी गई। एक मिनट बाद वापस आई। लौंगें उतारनी शुरू कीं, इस बीच मैं बोला, "तूने मां से अनुमति ले ली है?"

"हां, मां ने अनुमति दे दी है।"

लौंगें उतारकर मेरे हाथ में धर दीं, एक लौंग गिर गई। माधुरी ने

ध्यानपूर्वक उसे ढूंढ़कर मुझे दे दिया।

लेकिन मेरा लोभ किसी तरह न जाता था। मेरी नजर चूड़ियों से हटती ही न थी। मैं अभी तक इस बच्ची का नाम नहीं जानता था। यह भी नहीं जानता था कि वह किसकी लड़की है। मैंने अब उसका नाम जान लिया और उसके लायक पिता को भी पहचान लिया और बोलाः "ओ माधुरी! इस चूड़ी में इतना क्या लोभ? तेरी जैसी निर्दोष लड़की को गहनों से क्या काम? क्या तू अपनी चूड़ियां भी न देगी?"

माधुरी पिघली। उसने अपने हाथ से ही चूड़ी उतारकर मेरे हाथ में धर दी। मुझे लगा कि मैं जीत गया। लेकिन जीत तो माधुरी की ही हुई। इस बालिका ने मेरा मन हर लिया। मुझे मन-ही-मन उसके माता-पिता से ईर्ष्या हुई। मैंने परमात्मा से प्रार्थना की कि "हर माता-पिता के ऐसे बच्चे हों!" स्वराज्य-प्राप्ति के विषय में मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया।

मैंने माधुरी से कहाः "तूने कमाल ही कर दिया। अब अगर तू दूसरी चूड़ी देगी भी तो नहीं लूंगा। लेकिन तूने इतना जो दिया है सो क्या खुश हो कर दिया है? तुझे वापस लेना हो तो ले ले।"

ऐसा कह मैंने गहने उसके आगे रख दिए।

"यह तो मैंने आपको खुशी-खुशी दिए हैं। वे मुझे वापस नहीं चाहिए।"

मेरा सवा सेर खून बढ़ गया।

मैं बहनों के दर्शन के लिए दूसरी कोठरी में गया। मेरे और माधुरी के संलाप को दूसरे बच्चे भी सुन रहे थे।

o o

पुष्पा ने, जो पड़ोसी की लड़की थी, अपनी चूड़ी उतार कर मेरे हाथ में रख दी।

"तूने मां से आज्ञा ले ली है?"

"हां जी, मुझे मां ने आज्ञा दी, इसी से मैं यह चूड़ी दे रही हूं।"

"इन सब गहनों को लेने की मेरी जो शर्त है, क्या तू उसे जानती है? जो लड़कियां मुझे गहने देंगी, वे जब तक स्वराज्य नहीं मिल जाता तब तक अपने पिता से वैसे ही नये गहनों की मांग नहीं कर सकेंगी। उसी तरह से और गहने हों और अगर पहनने का मन करे तो पहन सकती हैं। लेकिन फिलहाल नये नहीं बनवाए जा सकते।"

"मेरे पास ऐसी दूसरी चूड़ी है। मैं नयी नहीं बनवाऊंगी। मैंने खुशी के साथ अपनी चूड़ी दी है।"

माधुरी देख रही थी। मां के साथ कुछ बात भी कर रही थी। उसने तो कांच की और सोने की चूड़ियां भी उतारकर मेरे हाथ में धर दीं!

"यह कांच की तो ले लेता हूं। लेकिन मैंने कहा था कि अगर तू दे तो भी मैं सोने की दूसरी चूड़ी नहीं लूंगा। इसलिए यह तू मुझे मत दे। तूने तो बहन, बहुत दिया है।"

"मैं तो आपको दे चुकी हूं। मुझे यह नहीं चाहिए। मैंने आपको खुशी से दी है; इसे रखें।"

माधुरी ने मुझे पराजित कर दिया। मैंने अपना वचन भंग किया। उपर्युक्त चूड़ी मेरे हाथ में देकर खाली हाथ और खाली कान वाली माधुरी मुझे तो और भी ज्यादा सुंदर लगी। मैंने उसे अपने हृदय से लगा लिया।

मैं हर्ष से पुलकित हो उठा, मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया।

इसके बाद माधुरी 'काम' में लग गई। उसने दूसरी लड़कियों के हाथों को खाली कराना शुरू कर दिया। उसमें उसे अतिशय सफलता मिली।

लेकिन क्या उसकी सफलता-असफलता पर ईश्वर उसका मूल्यांकन करने वाला है? उसका वचन तो यह है कि "तू कर्म कर; फल तो मेरे ही हाथ में रहने दे।"

माधुरी ने तो अपने 'कर्म' को भली-भांति निभाया। संसार को दिखाने के लिए नहीं बल्कि अपने छोटे-से शरीर में वास करने वाली विशाल आत्मा को प्रसन्न रखने के लिए।

माधुरी और पुष्पा को खादी पहनने और चरखा चलाने की सलाह दे और परिवार की स्त्रियों से खादी और चरखे के संबंध में वचन ले, माधुरी और पुष्पा की प्रशंसा करता हुआ मैं वहां से विदा हुआ।

ऐसे बच्चों के निर्दोष यज्ञ से भी यदि हमें इसी वर्ष स्वराज्य नहीं मिलता तो हमारे तथाकथित बुजुर्गों के पाप का पुंज कितना विशाल होगा? भगवान! माधुरी और पुष्पा जैसे निर्दोष बच्चों को इस भूमि पर सदैव भेजते रहो। हम सब स्त्री-पुरुष ऐसे बच्चों की पवित्र आत्मा को प्रणाम करें और उनसे कुछ सीखें।

माधुरी और अपने बीच हुए इस संवाद को मैंने तीस घंटे बाद लिखा और जहां तक मुझे याद पड़ता है, मैंने उसे अक्षरशः यहां प्रस्तुत किया है। भाषा भी बच्चों की होने के कारण मैंने उसे बिना किसी आडंबर के लिखा है और मैं देख रहा था कि बच्चों की भाषा अत्यंत शुद्ध थी।

(नवजीवन, 26.06.1921)

कविता

लड़ती लड़कियां

○ हूबनाथ

उम्र सिर्फ पंद्रह बरस
जिसमें चार कटे
डिप्रेशन में
कि अगर यह पृथ्वी
गर्म होती रही इसी तरह
जंगल कटते और
जलते रहे इसी तरह
मुट्ठी भर लोगों की
शैतानी सुविधाएं
हैवानी जरूरतें बेतहाशा बढ़ती रहीं इसी तरह
तो कब तक बर्दाश्त करेगी
हमारी इकलौती धरती।

अपना घर
अपना परिवार
अपनी पढ़ाई
अपना भविष्य
सब कुछ दांव पर लगा
अपने कंधे पर
बेहद असुविधाजनक
कंटीले प्रश्नों का थैला उठाए
घूम रही है
अपनी प्यारी धरती पर
और इसे रौंद रहे सूअरों से
इंसानों की भाषा में
पूछे जा रही है
किसने हक दिया तुम्हें
हमारी पृथ्वी से खेलने का
हमारे फेफड़ों में
जहर घोलने का
हमारी पवित्र नदियों को
नालों में बदलने का
मासूम कलियों को
आग में झोंकने का
मुझे अभी और इसी वक्त
तुमसे जवाब चाहिए
मैं बिना जवाब सुने तुम्हें
नहीं बख्शने वाली।

अगर पृथ्वी ही नहीं रही
जीने के लायक
तो क्या अर्थ है
हमारी पढ़ाई
हमारे करिअर
हमारे भविष्य का?
यह धरती
तुम्हारी बपौती नहीं है
न तुम हो
इसके एकमात्र मालिक
घटिया और मूल्यहीन

राजनीति के कीड़े तुम लोग
घुन की तरह खा रहे
मेरी प्यारी धरती को।

ये जो सुविधाएं
तुम हमारे नाम पर
लाद रहे हो
धरती के कमजोर सीने पर
वह निरा घोर स्वार्थ है
तुम्हारी अहंकारी सत्ता का।

मेरे पूर्वजों ने सौंपी थी तुम्हें
धरती मुहाफिज समझकर
तुम तो लुटेरों से भी
बदतर निकले
तुम्हारी हवस तुम्हारी भूख
मेरी धरती को भून रही है
और मेरे गूंगे बहरे अपंग
अभिभावक
घुटने टेक चुके हैं
क्योंकि उन्होंने जी लिया है
अपना पराजित समझौताग्रस्त
निरर्थक जीवन

पर मेरे सामने तो मेरी
पूरी जिंदगी पड़ी है
और वह मैं तुम जैसे
मूर्खों के हाथों
बरबाद नहीं होने दूंगी।

ग्रेटा चीख रही है
ग्रेटा रो रही है
ग्रेटा ईसा की तरह बेखौफ
मुहम्मद की तरह न्यायपरस्त
गांधी की तरह जिद्दी
बुद्ध की तरह करुणामयी
और एक जननी की तरह
परम शक्तिशाली
दुनिया भर के बच्चों की
कठोर आवाज बनकर
सवालों पर सवाल किए जा रही है
और हम
शुतुरमुर्ग की तरह
रेत में सिर धंसाए
तूफान के गुजर जाने का
इंतजार कर रहे हैं।

*

बिंब-प्रतिबिंब

अचानक ही एक साथ इतनी काली प्रेत-छायाएं हमें घेरने लगी हैं कि हम अनगिनत बिंबों-प्रतिबिंबों में घिर-से गए हैं। कोरोना का अंधकार गहराता ही जा रहा है... हम इसे संभाल पाते कि अमरीका ने अपने अश्वेत नागरिक जॉर्ज फ्लायड की हत्या कर सारे संसार में एक भूचाल ला दिया। कितनी ही स्थापित प्रतिमाएं भू-लुंठित हुईं... और तभी हमारी सीमा पर चीन की घुसपैठ ने बहुत हद तक बनता खेल बिगाड़ दिया ... फिर हमने देखा कि सारे देश में चले ऐतिहासिक नागरिकता आंदोलन को सरकार ने दिल्ली के सांप्रदायिक दंगों से जोड़ कर एक ऐसा छद्म रचने की शुरुआत की जिसमें उसने शीर्ष सामाजिक कार्यकर्ताओं को अपराधी बता कर जेल में डालना शुरू कर दिया। पुलिस पर दबाव डाल कर ऐसे जाली एफआइआर बनवाए गए कि किसी भी सजग व संविधान के प्रति प्रतिबद्ध न्यायपालिका को स्वयं ही संज्ञान लेकर सरकार और पुलिस दोनों को ही कठघरे में बुला लेना चाहिए था. लेकिन उसे जैसे लकवा मार गया। अदालत का ऐसा ही चेहरा हमने तब भी देखा जब भीमा कोरेगांव का मामला विवेक व लोकतांत्रिक मर्यादा की सारी सीमाएं लांघ गया। यह हमारे लोकतंत्र का सबसे काला दौर है।

जयप्रकाश ने संपूर्ण क्रांति आंदोलन के दौरान ही हमें बताया था कि लोकतंत्र का एक भी खंभा कहीं हिलता है तो वह लोकतंत्र को चौतरफा खोखला बनाने लगता है। इसलिए लोकतांत्रिक संस्थानों का संवैधानिक दायित्व है कि जो जब, जहां कमजोर पड़े, उसकी तब वहीं मरम्मत हो जानी चाहिए ताकि कोई भी बीमारी लोकतंत्र का कोरोना न बन जाए। संविधान ने इसलिए ही तो

अपने सारे संस्थानों को स्वायत्त भी बनाया और उनकी चुटिया एक-दूसरे से बांध भी दी। उसने बता दिया कि इस व्यवस्था में अंतिम कोई नहीं होता है सिवा उस नागरिक के, जिसके वोट से यह व्यवस्था बनती है और जिसके नोट से यह व्यवस्था चलती है। लेकिन आज का दुर्भाग्य यह है कि न्यायपालिका अपनी चुटिया कटवा कर, गंजी हो गई है; अन्यथा यह कैसे संभव हुआ कि सरकारों ने ऐसे-ऐसे कानून बना लिये जिसने कभी न्यायपालिका के हाथ, तो कभी पांव काट लिये और न्यायपालिका अपनी गीता— संविधान— लेकर खड़ी भी नहीं हुई? आज यूएपीए, एनएसए जैसे कानून, एनआइए जैसे जांच संस्थान न्यायपालिका को विकलांग बनाते हैं। महात्मा गांधी ने कहा था कि जब तंत्र दिशा खोने लगे तो लोक का धर्म है कि वह सत्याग्रह करे।

सरकार को तंत्र चाहिए, लोक नहीं; लोक को लोकतंत्र चाहिए, सत्याग्रह नहीं। ऐसे में उसे मिल भी क्या सकता है। वही लोकतंत्र जो खरीदा-बेचा जा रहा है और वही विकास दुबे जो लोकतंत्र के चेहरे पर कालिख पोतता निकल जाता है। दुष्यंत कुमार हमें याद दिलाते हैं: *इस तरह टूटे हुए चेहरे नहीं हैं/जिस तरह टूटे हुए ये आईने हैं।* उन टूटे हुए आईनों की बानगी जिनकी मरम्मत हमारे लिए सांस लेने जैसी जरूरी है:

यह चीनी बुखार आसानी से उतरता नहीं है

हमारे चारों तरफ आग लगी है। सीमाएं सुलग रही हैं - चीन से मिलने वाली भी और नेपाल से मिलने वाली भी! पाकिस्तान से मिलने वाली सीमा की चर्चा क्या करें; उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है। बांग्लादेश, श्रीलंका और म्यांमार से लगने वाली सीमाएं खामोश हैं तो इसलिए नहीं कि उन्हें कुछ कहना नहीं है बल्कि इसलिए कि वे कहने का मौका देख रही हैं। कोरोना ने अंतरराष्ट्रीय सीमाओं की सीमा भी तो बता दी है न!

चीन-भारत सीमा पर ताजा लपट लद्दाख की गलवान घाटी में दहकी और फैलती हुई दूर तक पहुंच गई है। 1962 के बाद भारत-चीन के बीच यह

सबसे बड़ी सीधी मुठभेड़ है। सरकार इसे छिपाती हुए पकड़ी गई है। चीन को अपने पाले में लाने की उसकी तमाम तमाम कोशिशों के बावजूद आज चीन सबसे हमलावर मुद्रा में है। डोकलाम से शुरू हुआ मामला आज गलवान की घाटी तक पहुंचा है। यही चीनी बुखार है, जो आज नेपाल को चढ़ा है। पाकिस्तान तो कब से इसकी गिरफ्त में है। म्यांमार, श्रीलंका तक यह पहुंच रहा है। कहा तो जा रहा है कि चीनी-भारतीय फौजी अधिकारियों के बीच वार्ता चल रही है लेकिन सच यह है कि हम कहे जा रहे हैं और वे सुन रहे हैं। युद्ध की भाषा में इसे वक्त को अपने पक्ष में करना कहते हैं। चीन उसी चालाकी में है।

देश के संदर्भ में सीमाओं का मतलब होता है संबंध! इसलिए अमरीका से हमारे संबंध कैसे हैं या फ्रांस से कैसे हैं इसका जायजा जब भी लेंगे हम तब यह जरूर ध्यान में रखेंगे कि इनके साथ हमारी भौगोलिक सीमाएं नहीं मिलती हैं। सीमाओं का मिलना यानी रोज-रोज का रिश्ता; तो मतलब हुआ रोज-रोज की बदनीयती भी, बदमगजी भी और बदजबानी भी! और रोज-रोज का यह संबंध यदि फौज-पुलिस द्वारा ही नियंत्रित किया जाता है तब तो बात बिगड़नी ही है। इसलिए जरूरी होता है कि राजनयिक स्तर पर संवाद बराबर बना रहे और शीर्ष का नेतृत्व गांठें खोलता रहे। यह बच्चों का खेल नहीं है, मनोरंजन या जय-जयकार का आयोजन भी नहीं है। अपनी बौनी छवि को अंतरराष्ट्रीय बनाने की ललक इसमें काम नहीं आती है। सीमा का सवाल आते ही अंतरराष्ट्रीय राजनीति का वह सबसे हृदयहीन चेहरा सामने आता है जहां सब कुछ स्वार्थ की तुला पर ही तौला जाता है। 1962 में यही पाठ जवाहरलाल नेहरू को चीन से सीखना पड़ा था और आज 2020 में नरेंद्र मोदी भी उसी मुकाम पर पहुंचे हैं। इतिहास की चक्की बहुत बारीक पीसती है। तब जवाहरलाल ने कोई गलती नहीं की थी; आज नरेंद्र मोदी ने भी कोई गलती नहीं की है। कोई ऐसा भी कह ही सकता है कि तब 1962 में जवाहरलाल नेहरू ने जो गलती की थी, ठीक वही गलती 2020 में नरेंद्र मोदी ने की है। भारत 2020 में फिर से 1962 झेल रहा है।

चीन सीमा-विस्तार के दर्शन में मानने वाला और एशियाई प्रभुता की ताकत पर विश्वशक्ति बनने की महत्वाकांक्षा पालने वाला देश है। हमारे और उसके बीच सीमा का लंबा विवादास्पद भू-भाग है, हमारे क्षेत्रीय, एशियाई और अंतरराष्ट्रीय हित अक्सर टकराते दिखाई देते हैं। हममें से कोई भी आर्थिक दृष्टि से मजबूत हो, उसकी अंतरराष्ट्रीय हैसियत बड़ी हो तो दूसरे को परेशानी होती है। यह सिर्फ चीन के लिए सही नहीं है, हमारे यहां भी

ऐसी ‘बचकानी’ अंतरराष्ट्रीय समझ रखने वाले लोग सरकार में भी हैं और तथाकथित शोध-संस्थानों में भी। इसलिए चीन जब भी हमारे जेहन में आता है, इतनी सारी बातें भी सिमट आती हैं।

क्या मोदी सरकार ने इन सारी बातों को भुला कर चीन से रिश्ता बनाने की कोशिश की थी? नहीं, उसने यह सब जानते हुए भी चीन को साथ लेने की कोशिश की थी, क्योंकि यही अंतरराष्ट्रीय समझदारी का तकाजा है। दुनिया हमारे अनुकूल बन जाए फिर हम अपना काम करेंगे, ऐसा कभी और कहीं नहीं होता है। दुनिया जैसी है उसमें ही हम अपना हित कैसे साध सकते हैं, यह देखना और करना ही सफल डिप्लोमेसी होती है। इसलिए इतिहास को बार-बार पढ़ना और उससे वर्तमान का नाता बनाना पड़ता है। हम चाहें, न चाहें ऐतिहासिक सच्चाई यह है कि भारत-चीन के बीच का आधुनिक इतिहास जवाहरलाल नेहरू से शुरू होता है। इस सरकार की दिक्कत यह है कि यह इतिहास पढ़ती नहीं है, समझती उससे भी कम है और जवाहरलाल नेहरू से बिदकती है। इतिहास से ऐसा रिश्ता आत्मघाती होता है।

आजादी के बाद दो बेहद आक्रामक व क्रूर गुटों में बंटी दुनिया में नव स्वतंत्र भारत की जगह व भूमिका तलाशने का काम जिन जवाहरलाल नेहरू के सिर आया था, उनकी दिक्कत कुछ अलग तरह की थी। उनके पास गांधी से मिले सपनों की आधी-अधूरी तस्वीर तो थी लेकिन गांधी का रास्ता उनके दिमाग में बैठता नहीं था। गांधी और उनका रास्ता, दोनों ही खतरनाक हद तक मौलिक थे। उन्हें छूने के लिए बला का साहसी और आत्मविश्वासी होना जरूरी था। जवाहरलाल ने आजादी की लड़ाई लड़ते वक्त ही इस कठिन गांधी को पहचान लिया था और उनसे अपनी दूरी तय कर ली थी। लेकिन वे यह सच भी दूसरों से अधिक बेहतर जानते थे कि भारत की किसी भी नई भूमिका की परिपूर्ण तस्वीर तो इसी बूढ़े के पास मिलती है। इसलिए उन्होंने अपना एक आधा-अधूरा गांधी गढ़ लिया था लेकिन उसके साथ चलने के अपने रास्ते बना लिये थे। ऐसा करना भी आसान काम नहीं था। अमरीकी व रूसी खेमे से बाहर तटस्थ राष्ट्रों के एक तीसरे खेमे की परिकल्पना करना और फिर अंतरराष्ट्रीय राजनीति में उसका प्रयोग करना जवाहरलाल से कमतर किसी व्यक्ति के बूते का था ही नहीं। वे थे तो यह प्रयोग परवान चढ़ा। तटस्थ राष्ट्रों का एक नया दर्शन व आंदोलन अंतरराष्ट्रीय मंच पर जगह बनाने लगा। कई देशों को उन्होंने इसके साथ जोड़ा भी।

नहीं जुड़ा तो चीन। जवाहरलाल की विदेश-नीति के कई आधारों में एक महत्वपूर्ण आधार यह भी था कि एशियाई मामलों से अमरीका व रूस

को हर हाल में दूर रखना। वे समझ चुके थे कि ऐसा करना हो तो चीन को साथ लेना जरूरी है। इस ठोस अहसास के साथ उन्होंने चीन के साथ रिश्ते बुनने शुरू किए। वे चीन को, माओ-त्से-दुंग को और साम्यवादी खाल में छिपी चीनी नेतृत्व की पूंजीवादी मंशा को अच्छी तरह जानते थे। चीनी ईमानदारी व सदाशयता पर उनका भी भरोसा नहीं था लेकिन वे जानते थे कि अंतरराष्ट्रीय प्रयोगों में मनचाही स्थितियां कभी, किसी को नहीं मिलती हैं। यहां जो पत्ते हैं आपके हाथ में, उनसे खेलना पड़ता है। इसलिए चीन के साथ कई स्तरों पर रिश्ते बनाए और चलाए उन्होंने। पंचशील उनमें से ही निकला था। बात कुछ दूर पटरी पर चली भी लेकिन जवाहरलाल के आकलन में चूक यह हुई कि रिश्ते एकतरफा नहीं होते हैं। सामने वाले को अनुकूल बनाना आपकी हसरत होती है; अनुकूलता बन रही है या नहीं, यह भांपना आपकी जरूरत होती है। जवाहरलाल की नई पहलों के कारण अंतरराष्ट्रीय समुदाय में भारत का बढ़ता कद चीन को पच नहीं रहा था। एशियाई महाशक्ति की अपनी तस्वीर के फ्रेम में उसे भारत चाहिए ही नहीं था। उसने तरह-तरह की परेशानियां पैदा कीं।

नेहरू-विरोध का जो चश्मा इस सरकार ने पहन और पहना रखा है, उसे उतारेगी तो पाएगी कि यह सरकार जिस रास्ते पर चल रही है वह जवाहरलाल का ही बनाया हुआ है। फर्क इतना ही है कि वह नवजात हिंदुस्तान था, युद्ध व शीतयुद्ध से घिरा हुआ और तटस्थता की अपनी नई भूमिका के कारण अकेला पड़ा हुआ। सारी शंकाओं व सावधानी के साथ उसे चीन को साथ लेकर इस स्थिति का सामना भी करना था और भारत की एक नई भूमिका स्थापित भी करनी थी। आज जो हिंदुस्तान हमारे सामने है वह आजादी के बाद के 70 से अधिक सालों की नेहरू-बुनियाद पर खड़ा हिंदुस्तान है। इसके सामने एक अलग ही दुनिया है। इस सरकार के पास न तटस्थता जैसा कोई सपना है, न पंचशील जैसी कोई अवधारणा। सत्ताधीश सरकारें ऐसे सपने वगैरह पालती भी नहीं हैं। यह वह दौर है जब अमरीका, रूस और चीन तीनों की अंतरराष्ट्रीय भूमिका सिकुड़ती जा रही है। चीन को साबरमती नदी किनारे झूला झुला कर, और अमरीका को 'दुनिया के सबसे बड़े स्टेडियम में' खेल खिला कर हमने देख लिया है कि नेहरू को 1962 मिला था, हमें 2020 मिला है। सीमा पर लहकती आग के साथ अंतरराष्ट्रीय राजनीति में हम करीब-करीब अकेले हैं। यह 2020 का 1962 है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति का यह असली चेहरा है। लेकिन क्या कीजिएगा, रास्ता तो इसी में से खोजना है। मोदी सरकार ने भी खोज करने की ही कोशिश की। उससे

चूक यह हुई कि उसने जो किया उसमें उसकी आस्था नहीं थी, चालाकी थी। चालाकी किसी विदेश-नीति का आधार नहीं हो सकती है। यह सीख कर हमें आगे चलना है और इसके लिए जवाहरलाल नेहरू को खारिज करने की नहीं, उनका रास्ता समझने की जरूरत है।

कु.प्र.

क्या मैं जो हूं, आप मुझे वही नहीं देख सकते?

० लीयू छुएन चेन

मैं अपना मास्क संभालती हुई नजदीक की राशन दुकान के लिए भागने पर ही थी कि फोन की घंटी बजी। देखा, फोन मां का था। मैं समझ गई कि वह वही कहेगी (फिर से कहेगी) कि छेन, कोरोना से डर और बेकार बाहर मत जाया कर। लेकिन अभी उसकी आवाज बदली हुई थी। वह बहुत सशंकित थीः "तुमको पता है न कि भारत व चीन के बीच क्या हो रहा है। तुम हमेशा अपना जरा चेहरा ढक कर रखो, सुरक्षित दूरी रखो और झगड़ा लगाने वालों के बहकावे में मत आओ।"

इस हिदायत में नया कुछ भी नहीं था। सीमा पर जब भी कुछ नया घटता है, हम भारतीय चीनी उसकी प्रतिक्रिया के दायरे में आ जाते हैं। सीमा का हर तनाव जैसे लौट-लौट कर हम तक पहुंचता है और मैं हैरान हो कर सोचती हूं कि सड़क पर चलने वाला आम हिंदुस्तानी कब यह समझेगा कि मैं एक भारतीय चीनी हूं; और सीमा के पार के देश में जो भी होता है, उसका इल्जाम मुझ पर कैसे लगाया जा सकता है?

कोरोना के शुरुआती दिन थे और मैं अपने परिचित दुकान से अनाज आदि लेने पहुंची थी। मेरे मन में ऐसी कोई आशंका भी नहीं थी कि सामान देने वाला एक आदमी, जिसने मास्क पहन रखा था, मेरे सामने आया और एक बुरी-सी टिप्पणी करता हुआ निकल गया। अच्छा तो नहीं लग रहा था लेकिन दूसरे ग्राहकों के सामने ही मैं उस पर चिल्लाई और दुकान वाले ने उसे बुलाकर मुझसे माफी मांगने को विवश किया। गलती मेरी तो कुछ थी ही नहीं लेकिन फिर कभी उस दुकान पर जाने का मन ही नहीं हुआ।

मैं जासूस नहीं हूं। चीनी सरकार से मेरा कोई लेना-देना नहीं है। फिर मुझे यह क्यों भुगतना पड़ता है? मैंने जासूस की बात अकारण नहीं निकाली है। पिछली बार जब किसी प्रसंग में मैंने भारतीय चीनियों के पक्ष में कुछ ट्विट किया था तो मुझे 'चीनी एजेंट' बताकर एनआइए को खबर देने की बात कही गई थी। उस रात मैं सो नहीं सकी थी।

मुझे यह अजीब लगता है कि वैसे तो हम समान ही होते हैं, सम्मान से देखे जाते हैं। लेकिन जैसे ही चीन के साथ सीमा पर कोई तनाव होता, हमें शक की निगाह से देखा जाने लगता है। बड़ी आसानी से सिर्फ इसलिए सभी हमारी तरफ पीठ कर देते हैं कि हमारा चेहरा-मोहरा दुश्मन देश वालों जैसा दिखाई देता है। और ऐसे वक्त में लोगों का शक कम करने के लिए हमसे अपेक्षा की जाती है कि हम उन बेसिर-पैर की शोशेबाजियों में शामिल हों कि चीनी खाने का, चीनी सामान आदि का बहिष्कार करो। यह बात कुछ पागलपल भरी लगेगी कि एक निकट की मित्र ने मुझसे कहा कि अपनी राष्ट्रीयता प्रमाणित करने के लिए "तुम ज्यादातर भारतीय कपड़े पहनो न, और बिंदी लगाना भी शुरू कर दो।"

क्या मैं 1.35 अरब भारतीयों में से ही एक नहीं हूं? हम अल्पसंख्यकों पर यह बोझ क्यों डाला जाता है कि हम जिस देश के जन्मना नागरिक हैं, उस देश की नागरिकता प्रमाणित करने के लिए हमें अपनी संस्कृति बदल लेनी चाहिए? मैं चीनी मूल की जरूर हूं लेकिन मुझे मैंड्रीन भाषा का कोई ज्ञान नहीं है। इसके विपरीत, मैं हिंदी और बांग्ला खूब अच्छी तरह जानती हूं। अभी हाल-फिलहाल में मेरी एक दोस्त ने मुझे तब खिन्न कर दिया जब वह बोलीः "तुम बुरा मत मानना लेकिन यह चीन जो है...।" यह बात मेरी समझ में ही नहीं आती है कि दूसरे इस बात की चिंता क्यों करते हैं कि किसी पड़ोसी देश के बारे में उनकी टिप्पणी से मुझे बुरा लगेगा।

1962 के युद्ध के घाव हमारे समुदाय पर आज भी भारी हैं। तब हम अपने साथ किए जाने वाले अन्यायों पर खामोश रह जाते थे कि लोगों का निशाना न बनें। यह लाचारी की सावधानी हमारी पीड़ा को बहुत बढ़ा देती है।

(चीनी मूल की भारतीय चेन कोलकाता में रहती हैं और 'इंडियन एक्सप्रेस' के ऑनलाइन संस्करण में वरिष्ठ उप-संपादक हैं)

फ्लायड के अंतिम सांस की प्रतिध्वनि

० सूरज येंगड़े

25 मई 2020 को जिस तरह दिन-दहाड़े अफ्रीकी-अमरीकी जॉर्ज फ्लायड की हत्या कर दी गई, उसने अमरीका में तूफान बरपा दिया। सारी दुनिया में फ्लायड के लिए न्याय मांगते लोग सड़कों पर उतर आए। श्वेत श्रेष्ठता तथा रंगभेदी पूंजीशाही की क्रूर दुनिया में अमरीका अपने अश्वेत व

भूरे नागरिकों से जैसा बुरा सलूक करता है, उसे समाप्त करने की मांग होने लगी। रंगभेदी पुलिस को खत्म करने तथा उसको मिलने वाला राजकीय कोष रोकने की बात भी उठी।

अमरीका के बड़े व्यापारिक कॉरपोरेशनों, वैश्विक पूंजीदाता संस्थानों, उदारवादी शैक्षणिक संस्थाओं ने भी तुरंत ही 'अश्वेत जीवन का भी मतलब है' आंदोलन को अपना समर्थन दिया। उनमें जो ज्यादा साहसी थे उन्होंने आगे आकर अपनी पुरानी गलतियों को सुधारने की घोषणा भी की। मनोरंजन उद्योग और श्वेत सितारों ने मिलकर एक वीडियो-क्लिप जारी किया जिसमें अश्वेतों के प्रति अपनी उदासीनता पर शोक जताया गया था और समय पर चुप रह जाने की चूक आगे न करने की बात कही गई थी।

भारत में भी दलित अधिकार पर काम करने वाले रवि कीर्थि, मयूरी कीर्थि और भीमराव कांशीराम कीर्थि ने कालों के प्रति अमरीका में होने वाले रंगभेद के खिलाफ नागपुर में विरोध प्रदर्शन किया। लेकिन वहां उन्होंने कुछ और भी कियाः वहां उन्होंने अमरीकी रंगभेद और भारतीय जातिभेद की समानताओं की भी बात की और फ्लायड के आखिरी वाक्य 'मैं सांस नहीं ले पा रहा' को भारतीय प्रतिध्वनि की तरह मुखरित किया। रंगभेद और जातिभेद के बीच की यह समानता है जिसकी बात कोई नहीं करता है। भारत में यह सामान्य-सा है कि जातीय भेद और हिंसा की बात आई तो कभी-कभार, किसी नामी-गिरामी आदमी ने सहानुभूति-समर्थन जता भर दिया और बात पूरी हो गई। कोई यह स्वीकार नहीं करता है कि यहां भारत में भी दलित वैसी ही, और कई बार तो अमरीका के अश्वेतों से भी ज्यादा नारकीय स्थितियों में रह रहे हैं। संभल से, मुरादाबाद से, पुणे से, नागपुर से— चाहे धार्मिक प्रथाओं का सवाल हो कि संपत्ति का विवाद, प्रेम-प्रसंग हो कि आपराधिक घृणा— अनगिनत उदाहरण हैं कि सवर्ण अत्याचारियों ने दलितों का क्रूर दमन किया है। दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों पर अत्याचार में पुलिस की भूमिका भी उभरकर सामने आती है। कई मामलों में तो किसी दलित की हत्या को 'एक और दलित हत्या' का शीर्षक देकर ठंडे बस्ते में डाल दिया जाता है। संविधानसम्मत दलित अत्याचार विरोधी धाराओं का शायद ही कभी इस्तेमाल होता है और पुलिस बड़ी कठोरता से जातीय अत्याचार का कोई संदर्भ बनने ही नहीं देती है।

अधिकांशतः तो एफआइआर ही दर्ज नहीं होती है। कभी हो गई तो जांच व दूसरी प्रक्रियाओं में देर की जाती है। मोटे तौर पर कहूं तो पुलिस दलित, आदिवासी व मुस्लिम विरोधी संस्था बन गई है। जो प्रताड़ित हैं उनके प्रति पुलिस की उदासीनता के कारण समाज प्रताड़ित को ही अपराधियों में एक मान लेता है। पुलिस ऐसा क्यों करती है? जिस तरह पुलिस का प्रशिक्षण होता है और दलितों, आदिवासियों व मुसलमानों के मामलों में उसे जैसा रुख रखना सिखाया जाता है, वह सब इसके पीछे है। पुलिस में भी सांप्रदायिक व जातिवादी तत्व रहते ही हैं जिनकी चर्चा भी नहीं होती है। कानून को लागू करने वाली हमारी प्रणाली के अंदर बैठे इन तत्वों पर कभी खुल कर चर्चा-समीक्षा नहीं की जाती है। ऐसे हालात में दलितों के प्रश्न पर सशक्त सामाजिक जागरण व सामाजिक नेतृत्व में प्रभावी कार्रवाई की जरूरत है। एक ऐसी समर्पित नैतिक शक्ति की जरूरत है जो गरीबों, कमजोरों, दलितों के लिए संघर्ष करे। कानूनविहीनता का जैसा माहौल आज है और सभी तरह के अत्याचारों की तरफ राज्य व पुलिस की जैसी उदासीनता है, उसमें रास्ता यही बचता है कि संविधानसम्मत, सामाजिक प्रतिबद्धता रखने वाली एक ऐसी ताकत खड़ी हो जो हर तरह की हिंसा पर काबू करे।

कई बार हमने देखा है कि नैतिक शक्ति ज्यादा प्रभावी व परिणामकारी होती है। अंग्रेजों के क्रूर दमन के बावजूद वह नैतिक शक्ति ही थी जिसने हमें आजादी दिलाई। अभी जब हवा में फ्लायड और व्यवस्था की खामियों की चर्चा जोरों पर है, ऐसी प्रभावी नैतिक शक्ति की जरूरत और उसकी प्रासंगिकता बहुत बढ़ गई है।

(लेखक मीडियाकर्मी, स्तंभकार तथा 'कास्ट मैटर्स' पुस्तक के लेखक हैं)

न्याय को कहां न्याय मिलेगा?

○ प्रताप भानु मेहता

हमारे दौर के एक महत्वपूर्ण और साहसी चिंतक आनंद तेलतुंबडे ने आज अपनी जेल में उम्र के 70 साल पूरे किए। आनंद तेलतुंबडे ही अकेले नहीं हैं, सुधा भारद्वाज, वरवरा राव जैसे कई साथी जेल में हैं। आंध्रप्रदेश के 80 साल के वरवरा राव कवि भी हैं, माओवादी दर्शन के ख्यात ज्ञाता भी हैं।

उम्र और कई तरह के बीमारियों से घिरे, पकी उम्र के वरवरा राव को कोरोना संक्रमण भी हो गया है। यूएपीए नामक जिस धारा में इन सबकी गिरफ्तारी की गई है वह राज्य को ऐसी अमर्यादित, असीम ताकत देती है कि वह चाहे जैसे, बगैर किसी प्रतिवाद के असहमतों को और उनकी आवाज को खामोश कर सकती है। और हम देख रहे हैं कि धृतराष्ट्र बनी हमारी न्यायपालिका एक-के-बाद-दूसरी जमानत की अपील खारिज करती हुई, संविधानप्रदत्त सारे सुरक्षा-प्रावधानों को बेअसर करती जा रही है, और इन सबकी गिरफ्तारी के सवाल पर राजनीतिक खेमे में खतरनाक वज्र चुप्पी छाई हुई है। भीमा कोरेगांव मामले में गिरफ्तार हुए ये लोग न पहले हैं, न आखिरी। असम से दिल्ली तक सरकार तमाम प्रतिवादों-प्रतिरोधों को कुचलने के लिए यूएपीए का इस्तेमाल कर रही है। यह सब हमारे लिए गहरी चिंता का विषय है।

आनंद तेलतुंबडे ने अपनी किताब 'रिपब्लिक ऑफ कास्ट' में जैसे अपनी आज की ही दशा की भविष्यवाणी की है। उनको, और उनकी ही तरह के तमाम लोगों को उन्हीं कलमजीवी बुद्धिजीवियों का समर्थन मिलता रहा है, जो बयान-प्रतिवेदन आदि जारी करते रहते हैं। लेकिन आनंद का मामला हमें यह देखने-समझने पर मजबूर करता है कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में एक शुद्ध, खरा बौद्धिक राजनीतिक बियाबान में किस कदर अकेला हो जाता है। एक ख्यातनामा दलित बौद्धिक जेल में डाल दिया जाता है और कहीं से गंभीर राजनीतिक प्रतिवाद का स्वर नहीं उठता है— दलित राजनीतिज्ञों की आवाज भी नहीं उठती है। तेलतुंबडे ने किसी दूसरे संदर्भ में लिखा है: "2011 में, जब दलित कार्यकर्ता सुधीर धवले की गिरफ्तारी हुई थी और बड़े जोर-शोर से उन्हें नक्सली बताकर करीब चार सालों तक जेल में बंद रखा गया था, तब उनके अपने समुदाय से शायद ही प्रतिवाद की कोई आवाज उठी थी।" तेलतुंबडे जैसे चर्चित लोगों को भी जब राजनीतिक समर्थन नहीं मिलता है तब फिक्र तो होनी ही चाहिए। तेलतुंबडे ने खुद भी, यहां-वहां इस बात को समझने की कोशिश की है और फिर बताया है कि इसके पीछे दलित समाज की आंतरिक टूट और उनका राज्य पर पूरी तरह आश्रित होना है। लेकिन वे कुछ दूसरे बारीक कारणों का भी जिक्र करते हैं।

एक तरफ हम मानते हैं कि जातीय पहचान की राजनीति से बाहर निकलना भारत की जरूरत है; दूसरी तरफ इस पहचान को पीछे छोड़ने वालों के प्रति गहरी उपेक्षा भी हम ही बरतते हैं। तेलतुंबडे उन गिनती के लोगों में एक हैं जिनका तर्क है कि वामपंथियों और उदारवादियों ने जाति के सवाल को कभी गंभीरता से नहीं लिया, और जातीय संगठनों ने वर्गीय पहचान और

आर्थिक सवालों को कभी गंभीरता से नहीं लिया। नतीजा यह हुआ कि दोनों के बीच एक खाई-सी बन गई। इसलिए जब तेलतुंबडे जैसा कोई राज्य के निशाने पर होता है तो अधिकांशतः समाज विचलित नहीं होता है क्योंकि तब तेलतुंबडे मात्र 'दलित विचारक' बना दिए जाते हैं; और दलित समाज इसलिए विचलित नहीं होता है कि वहां तेलतुंबडे की छवि 'वामपंथी बौद्धिक' की बना दी गई है। ठोस सच्चाई यह है कि बयानों-प्रतिवेदनों की सारहीन राजनीति से अलग व आगे राजनीतिक दृष्टि से किसी व्यक्ति के बचाव का एक ही फलदायी तरीका बच रहता है कि उसका समुदाय उसके पीछे खड़ा हो। अगर आप एक बार यह साबित कर सके कि आप पर हमला दरअसल हमारी जातीय पहचान पर हमला है तो फिर सारा तूफान फट पड़ेगा। इसके सिवा राजनीतिक प्रतिरोध का दूसरा रास्ता नहीं है।

तेलतुंबडे यह भी बताते हैं कि भारत में 'वामपंथी' होने का मतलब बाजार और राज्य के समीकरण को समझना-सुलझाना नहीं होता है बल्कि बनी हुई जातीय पहचानों से अलग हटने और जातीय मामले को जटिल बना देना होता है। हिंदुत्व वालों के लिए वह हर कोई 'वामपंथी' होता है, जो हिंदुओं की एक जमात वाली पहचान को अलग-अलग करके देखता-दिखाता है। लेकिन ऐसा ही दूसरी पहचान वालों के बारे में भी सही है– मराठा, जाट, दलित, राजपूत आदि भी 'वामपंथी' को समान विरोधी मानते हैं। मतलब यह कि जातीय पहचानों को जो उलझा देता है, वह 'वामपंथी' है। भारतीय राजनीति में असांप्रदायिक और सांप्रदायिक के बीच की खाई से भी यह खाई कहीं बड़ी है। नतीजतन यदि आप ऐसे 'वामपंथी' हैं तो आपको किसी भी तरह का राजनीतिक संरक्षण नहीं मिल सकता है।

आदिवासियों के बीच आपको 'वाम' का ज्यादा बड़बोला संस्करण मिलेगा 'माओवादी'। इस तरह भारतीय राजनीति में 'वामपंथी' हमेशा चर्चा में रहता है। तेलतुंबडे ने इसकी अंदरूनी सच्चाई यह भी बतलाई कि यहां आप एक बार 'वामपंथी' हो गए तो आपके राजनीति व पेशेवर जिंदगी पर अमिट धब्बा लग जाता है। यहां तक की अदालत भी आपकी तरफ अलग नजरों से देखने लगती है। ऐसे में एक सच्चे बौद्धिक व्यक्ति का एकदम अकेला हो जाना वह नियति है जिससे तेलतुंबडे आज स्वयं गुजर रहे हैं।

भीमा कोरेगांव मामला एक साथ हमारे राज्यतंत्र की कई परतें खोल देता है। यूएपीए जैसा कानून और इसका एकदम अटपटा इस्तेमाल उदार लोकतंत्र की पूरी समझ का ही मजाक उड़ाता है। कानूनविद अनुभव शेखरी ने अपने एक ताजा लेख में कानून के बारे में दो विशेष बातें लिखी हैं। वे

लिखते हैं कि कानून इस तरह बना है कि उसमें मासूमियत या अपराधबोध का कोई संदर्भ करीब-करीब बनता ही नहीं है। सच तो यह है कि यह आपको बगैर किसी अफसोस के सजा सुना देता है। मेरी बात ज्यादा साफ होगी जब मैं आपका ध्यान इस तरफ दिलाऊं कि तेलतुंबडे याकि ज्यादा मौजूं उदाहरण दूं तो सुधा भारद्वाज जैसे लोगों को जमानत ही नहीं मिलती है। कानून की दूसरी चारित्रिक विशेषता यह है कि अपराधिक न्याय के मामले में यह अधिकांशतः मनमाने ढंग से काम करता है। लेकिन यूएपीए का मामला एकदम अलग है। यह राज्य की किसी भी तरह की गंभीर कानूनी जांच-पड़ताल को एकदम असंभव बना देता है। अदालतों के ऐसे रुख को दो बातें वैधता देती हैंः वह मोटे तौर पर मानती है कि 'वामपंथ' उसके अस्तित्व पर खतरा है; दूसरा यह कि समाज कानूनी जांच-पड़ताल के बारे में कानूनी सावधानी रखने के प्रति सहिष्णुता पसंद नहीं करता है। इस विशेष अर्थ में यूएपीए को हम कानूनी एनकाउंटर कह सकते हैं- जहां कानून का राज जैसी अवधारणा की समाप्ति ही एक तरह से न्याय का पर्याय मान ली जाती है।

वरवरा राव के मामले में तो राज्य ताउम्र उनके पीछ ही पड़ा है। वे जटिल व्यक्तित्व के मालिक हैं। वे असाधारण रूप से प्रभावशाली कवि हैं जिनकी कविताएं भारतीय समाज की शोषण की बुनावट का रेशा-रेशा उजागर कर देती हैं। उनकी कविताओं का अनुवाद पढ़ते हुए भी आप उदासीनता की ऊंघ से बाहर आ जाते हैं। चेतना जगाने वाली उनकी शख्सियत बहुत प्रभावी है। भीमा कोरेगांव मामले में उन्हें अपराधी बनाकर राज्य वरवरा राव को ही सही साबित कर रही है। जब कानून, राजनीतिक दल और राज्य सभी न्याय से मुंह मोड़ लें तब एक आदमी किस दरवाजे जाकर न्याय की आवाज लगाए?

(लेखक हमारे वक्त के सर्वाधिक सजग व सावधान टिप्पणीकार तथा अध्येता हैं)

विकास दुबे से हमारा बचना संभव कैसे है

० जूलियो फ्रांसिस रिबेरो

विकास दुबे का यह अवतार तो होना ही था। 1953 में, जब मैं पुलिस में भर्ती हुआ था तब कभी सपने में भी ख्याल नहीं आया था कि भारत में ऐसा अपराधी भी हो सकता है। अपराधी तो उन दिनों में भी हुआ

करते थे और गैंग के आका भी हुआ करते थे। लेकिन वे सब पुलिस से डरते थे, उसका दबदबा मानते थे। पुलिस पर हमला करने की हिम्मत भी कोई अपराधी नहीं कर सकता था– किसी वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के नेतृत्व में गई पुलिस टीम पर हमला करने और उसे खत्म करने की बात तो बहुत दूर की थी। फिर यह क्या हुआ कि विकास दुबे जैसा एक स्थानीय गुंडा, जिसकी दौड़ उत्तरप्रदेश के दो-चार जिलों से आगे कहीं थी नहीं, वह पुलिस को दो कौड़ी का मान बैठा था और उसके सामने प्रशासन की कोई औकात ही नहीं रह गई? जवाब देना मुश्किल नहीं है। अब तो कोई भी देख सकता है कि हमारी प्रशासनिक संस्थानों का कैसा राजनीतिकरण हुआ है और परिणामतः हमारी न्याय-व्यवस्था में अभूतपूर्व सड़न का क्या आलम है।

कोई भी नागरिक जब किसी अपराध के खिलाफ कानूनी मदद चाहता है तो उसका पहला ठौर होती है पुलिस! इसके बाद मुकदमा, बचाव पक्ष का वकील और जज– इस क्रम से बात आगे बढ़ती है। इसमें जो पहला घटक है यदि वही पैसों के जाल में या राजनीतिक दबाव में फंस जाता है तब व्यवस्था को लकवा मार जाता है। तब टाल-मटोल करता थाना-प्रभारी बीसियों कारण बताने लगता है कि उसने एफआइआर क्यों नहीं दर्ज की– वह एफआइआर जिसके बगैर कानूनी चक्का घूमता ही नहीं है।

अगर एफआइआर दर्ज हो भी गई तो भी पहले दिन से ही जांच का कबाड़ा होने लगता है। गवाहों के बयान सही तरीके से दर्ज नहीं किए जाएंगे याकि उसमें ऐसी कमजोरियां छोड़ दी जाएंगी कि बचाव पक्ष का वकील उसका पूरा फायदा उठा सके। अधिकांशतः तो यही होता है कि थानेदार और जांच अधिकारी मिलकर अपराधी का बचाव करने में जुट जाते हैं क्योंकि उनकी मुट्ठी खूब गर्म कर दी गई होती है याकि वे देखते हैं कि राजनीतिक रसूख रखने वालों को खुश रखने में उनका फायदा है। अगर पुलिसवाले की पोस्टिंग किसी राजनीतिक प्रभाव से हुई है, जैसा इन दिनों आम तौर पर होता है, तो आप निश्चित जानिए कि आरोपी छूट जाएगा।

आजादी के तुरंत बाद तक ऐसा चलन था कि राजनीतिक लोग अपराध की छानबीन में दखल नहीं देते थे। इसमें चार दशकों या उससे कुछ अधिक बाद में परिवर्तन आया– खासकर मैं महाराष्ट्र की बात करता हूं जिसका मुझे निजी अनुभव है। उत्तर भारत के राज्यों के बारे में मैं बहुत नहीं कह सकता। राजनीतिक दखलंदाजी और भ्रष्ट अधिकारियों के संरक्षण की शुरुआत वहां शायद पहले हो गई थी। लेकिन मुंबई के बारे में तो मैं निश्चित ही कह सकता हूं कि अपराधी, पुलिस व राजनीतिज्ञों का गठजोड़ 80 के दशक में उभरकर

सामने आया। लेकिन तब भी राजनीतिज्ञ खुल्लमखुल्ला अपराधियों को संरक्षण देते दीखने से बचते थे।

अपराधियों ने चुनावों में पैसों से ही मदद नहीं की, गुंडे भी दिए। इस दोहरी सेवा के आकर्षण से कोई राजनीतिक दल बच नहीं सका। राजनीतिक लोगों के हाथ में तबादला और पोस्टिंग का अधिकार है, तो वे अपने सहायक पुलिस अधिकारियों की इसमें मदद करने लगे। एक दफा जिस अधिकारी की पोस्टिंग राजनीतिक रसूख से हुई, वह जिंदगी भर उसका ही होकर रह जाता है। और पुलिस के राजनीतिकरण की प्रक्रिया तब पूर्ण हो जाती है जब पुलिस प्रमुख की नियुक्ति में राजनीतिक दखलंदाजी शुरू हो जाती है। यही आज देश के सभी राज्यों में हो रहा है। मेरे अपने राज्य में अब भी राजनेता ईमानदार व स्वाभिमानी अधिकारियों का सम्मान करते हैं– खासकर उनका, जो भ्रष्टाचार को काबू में रखते हैं। तीन पैरों पर खड़ी इस व्यवस्था का एक पांव जब अलग रवैया अपनाता है तब अपराधियों के लिए मुश्किल होने लगती है। पुलिस का नेतृत्व जब स्वाभिमानी लोगों के हाथ में होता है तब इस बात की संभावना ज्यादा होती है कि अपराधी मनमाना न कर सकें। लेकिन यदि राजनेता ऐसा शक्तिशाली निकला जो पुलिस के हर काम पर असर डालता हो तब वह नियुक्तियों और तबादलों को ही नहीं, पुलिस के हर काम को प्रभावित करने लगता है। इसका नतीजा आज यह है कि या तो पुलिस खुद ही हत्यारी बन गई है या फिर उसने हत्यारों को छूट दे रखी है। विकास दुबे, जो खाकी वर्दी वालों को धेला भर गुदानता नहीं था, ऐसे ही राजनीतिक संरक्षण में फला-फूला। यदि शुरू में ही उसे दबोच लिया गया होता तो वह अपराध की दुनिया में इतने ऊपर पहुंच ही नहीं सकता था।

राष्ट्रीय पुलिस आयोग को इस दुरावस्था का अंदाजा पहले ही हो गया था। उसने 80 के दशक के प्रारंभ में एक खास प्रक्रिया की सिफारिश की थी कि जिससे पुलिस का नेतृत्व करने वाले धारदार अधिकारियों का चयन किया जा सके। सर्वोच्च न्यायालय ने भी इस प्रस्ताव से सहमति जताई थी। लेकिन कोई राजनीतिक दल अपनी मुट्ठी से पुलिस बल को स्वतंत्र करने को तैयार नहीं हुआ। जब तक यह मुट्ठी ढीली नहीं पड़ती है तब तक विकास दुबेओं का उदय जारी रहेगा।

विकास दुबे का अंत वैसे ही हुआ जैसी कई लोगों को आशंका थी। वह उस गाड़ी से निकलकर भागने की कोशिश कर रहा था जिस गाड़ी से उसे लाया जा रहा था और वह रास्ते में ही इस तरह पलट गई कि विकास दुबे बिना चोट खाए बाहर निकल आया। कोई भी इस कहानी पर भरोसा नहीं

करेगा, फिर भी कई लोग पुलिस और उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री की प्रशंसा भी करेंगे। इन दोनों ने अपराध को काबू में रखने का एक रास्ता एनकाउंटर निकाला है। ये भूल गए हैं कि इस आसान व छोटे रास्ते का इस्तेमाल करके वे उन बहुमुखी प्रतिभा वाले पुलिस अधिकारियों को बढ़ावा दे रहे हैं जो कानून के रक्षक नहीं, भक्षक बन रहे हैं।

(91 वर्षीय जूलियो फ्रांसिस रिबेरो देश के सर्वाधिक सम्मानित व सामाजिक रूप से जागरूक अवकाशप्राप्त पुलिस अधिकारी हैं। मुंबई के पुलिस कमिश्नर तथा गुजरात व पंजाब के डीजीपी रह चुके रिबेरो साहब को भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' से सम्मानित भी किया है)

विकास दुबे की हत्या गलत है!

***"भले आप अल्पमत में हों, पर सच-तो-सच है"* —महात्मा गांधी**

विकास दुबे मार डाला गया। इसके साथ ही दो बातें एक साथ लगभग सबके मुंह से निकलीं: एक कि ऐसे लोगों के साथ तो ऐसा ही होना चाहिए; दूसरी कि विकास दुबे का एनकाउंटर इसलिए कि वह अपने आकाओं की पोल न खोल दे। दोनों बातें एक साथ!! लेकिन आप समझ नहीं सके न कि हमारी ये दोनों बातें एक-दूसरे को काटती हैं।

यदि विकास दुबे का कोई आका था तो उसकी पोल खुलनी चाहिए थी न, ताकि हमारे बच्चों-भाइयों को जो अपराधी बनाते हैं उनकी गर्दन नापी जा सके। विकास को मार कर पुलिस ने वही किया जो विकास करता था— वह खुद अपराधी बन गई; और असली अपराधियों तक पहुंचने का रास्ता भी बंद हो गया। नुकसान किसका हुआ? हमारा-आपका। अब आका बने ही रहेंगे और हमारे-आपके बच्चों को अपराधी बनाते रहेंगे। अपराध का कारखाना चालू रहेगा तो अपराधी खत्म कैसे होंगे? सोचिएगा।

आप यह भी सोचिए कि समाज में न्याय-व्यवस्था बनी रहे, यह जरूरी है या नहीं? अगर न्याय-व्यवस्था खत्म हो जाएगी तो समाज जंगल बन जाएगा। जंगल में जो ताकतवर है, वह कमजोर को खा जाता है। लेकिन समाज में न्याय-व्यवस्था ताकतवर को दबंगई से रोकती है, कमजोर को सहारा देती है। सोचिएगा।

पुलिस का काम है अपराध को रोकना और अपराधी को पकड़ना! विकास दुबे को पुलिस न रोक सकी, न पकड़ सकी। वह खुद ही फेल हो

गई। जो खुद फेल है, वह किसी को सजा कैसे दे सकता है? सोचिएगा।

सरकार हम इसलिए बनाते हैं कि वह विकास दुबे को भी रोके और पुलिस को भी। लेकिन सरकार तो विकास दुबे जैसों के भरोसे ही चल रही है। वह क्या रोकेगी, क्या न्याय करेगी? कल को हमारे आपके साथ अन्याय हुआ तो आप कहां जाएंगे? विकास दुबे के पास? विकास दुबे की सरकार के पास, कि विकास दुबे की पुलिस के पास? इसलिए जरूरी है कि हमारी न्याय-व्यवस्था बनी रहे और कोई उस लक्ष्मण-रेखा को पार न करे। हमें लक्ष्मण-रेखा के साथ खड़े रहना है, रावणों के साथ नहीं। एनकाउंटर, मॉबलिंचिंग, रंगदारी यह सब हमारे समाज का नहीं, रावणों का ढंग है। हम न इनके साथ रहें, न इनका समर्थन करें। गंभीरता से सोचिएगा। इसलिए गांधीजी ने हमसे कहा थाः खतरा यह नहीं है कि हमारी संख्या कम है, खतरा यह है कि हम सच बोलते नहीं है। हम सब सच बोलें, सच का समर्थन करें, तो हम सब मजबूत हो जाएंगे। फिर हम विकास दुबे, पुलिस और सरकार, सबका मुकाबला कर सकेंगे।

-प्रेरणा

(राष्ट्रीय युवा संगठन, जयप्रकाश चौक, वर्धा द्वारा लोक-शिक्षण अभियान के तहत जारी)

*

तराशे हुए पत्थर के हीरे

०रामचंद्र गुहा

छत्तीसगढ़ का चेहरा राज्य ने और मीडिया ने इतना दागदार बना दिया है कि हमें याद ही नहीं रहता है कि क्रांतिकारी मानवीय आभा से दीपित दो चेहरे इसी छत्तीसगढ़ की देन थे। एक को मौत ले गई और दूसरे को हत्यारे! लेकिन समय और संघर्ष उनकी विरासत संभालता हुआ आगे बढ़ता ही जाता है। एक स्मृति-लेख

ट्रेड यूनियन नेता ए. के. रॉय, जिनका हाल ही में निधन हुआ है, भारतीय राजनीति के एक ऐसे युग के प्रतिनिधि थे जो अब निश्चित अतीत का हिस्सा बन गया है। धनबाद के सांसद के तौर पर उन्होंने तीन कार्यकाल पूरे किए और वह भी निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में! किसी राजनीतिक दल से वे जुड़े नहीं। उनके चुनाव के संसाधन खदान मजदूरों और मध्यमवर्गीय शुभचिंतकों द्वारा जुटाए जाते थे। रॉय धनबाद में अपने आम समर्थकों की तरह फूस की एक झोपड़ी में, बिना बिजली के रहते थे। उनका चरित्र और उनकी जीवन-शैली भारतीय संसद में बैठने वाले उन संपन्न लोगों से एकदम अलग थी, जो अपने मित्र पूंजीपतियों की तिजोरी के बल-बूते पर ऐश करते हैं।

कॉमरेड रॉय की मृत्यु की खबर पढ़कर मुझे 1981 की याद आ गई जब मैंने उनसे मिलने की कोशिश की थी। तब मैं एक पर्यावरण सम्मेलन में वालंटियर था। मुझे रॉय साहब को आमंत्रित करने की जिम्मेवारी दी गई थी। मैं उनके मात्र दो कमरों वाले सांसद फ्लैट पर गया। सांसदों के लुटियन शैली के जिन बंगलों को मैं देखता आया था, यह घर उनसे मेल नहीं खाता था। दरवाजा खटखटाया।

थोड़ी देर बाद लंबी कद-काठी वाले, कुरता-पायजामाधारी आदमी ने दरवाजा खोला। मैं पहचान गया कि वे रॉय नहीं थे, लेकिन मैंने तभी यह भी पहचान लिया कि वे शंकर गुहा नियोगी थे, छत्तीगढ़ के एक जुझारू मजदूर नेता। वे बड़ी शालीनता से बोले कि रॉय साहब घर पर नहीं हैं, लेकिन अगर कोई संदेश उन्हें देना हो तो मैं उन्हें बता सकता हूं।

बांग्ला लेखक मनोरंजन बैपारी ने भी नियोगीजी को देखने का संस्मरण लिखा है। वह मेरी छाप से काफी मिलता-जुलता है। फर्क सिर्फ इतना था कि उन्होंने गुहा नियोगी को हमारी भव्य राजधानी दिल्ली में नहीं, मध्य भारत के एक गांव में देखा था। छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा की एक सभा में बैपारी ने देखा कि एक लंबा दुबला आदमी, आंखों में चमक, खादी का कुरता-पायजामा पहने, नीचे घास पर आम लोगों के साथ बैठा था। हालांकि भीड़ में भी वह अलग दिख रहा था। उसके सिर और कंधे दूसरों के मुकाबले कहीं ऊंचे थे—वह सिर खासा ऊंचा था जिसने अन्याय के सामने झुकना नहीं सीखा था।

बैपारी बाद में गुहा नियोगी के घर गए: "मुझे यह देखकर ताज्जुब हुआ कि उनका घर बस्ती में रहने वाले किसी और मजदूर की मानिंद ही था। एक कमरा, जिसके दोनों ओर बरामदा था। मिट्टी की दीवारें जिनके ऊपर खपरैल की छत। जब मैं वहां पहुंचा तो शंकर गुहा नियोगी संगठन से मिलने वाले 750 रुपयों की अपनी मासिक कमाई के बूते पर, अपनी पत्नी, दो बेटियों और एक बेटे के छोटे-से परिवार के साथ खुश और शांत, चाय की चुस्कियां ले रहे थे।"

शंकर गुहा नियोगी ने अपनी जिंदगी एक मार्क्सवादी के तौर पर शुरू की थी। समय के साथ-साथ वे गांधी के करीब आए। बैपारी गुहा नियोगी के उस फलसफे और उसके अमल का जिक्र करते हैं, जिस पर चलकर गुहा नियोगी ने अपना यह सफर तय किया था। उन्होंने बैपारी को बताया था: "जयप्रकाश नारायण ने एक रचनात्मक आंदोलन का प्रयास किया, जो असफल रहा। नक्सलवादियों ने एक आक्रामक आंदोलन का प्रयास किया, वह भी असफल हुआ। इसलिए मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि रचनात्मक और आक्रामक के बीच एक सामंजस्य बैठाने की जरूरत है। इसको ध्यान में रखते हुए ही अपने संगठन के माध्यम से हमने प्रयास किया कि यहां हम अस्पताल, छोटे-छोटे स्कूल, वर्कशॉप, सहकारी और सांस्कृतिक समितियों का गठन करेंगे। इन प्रयासों के जरिये हमने लोगों को यह बताने की कोशिश की है कि जिस नये समाज की हमने परिकल्पना की है, उसका भावी स्वरूप कैसा होगा। यहां हम एक और प्रयास भी करते हैं कि लोकतंत्र के तहत हमें जो भी मौके मिले हैं उनका अधिकतम लाभ उठाएं—जैसे कि सभा, जुलूस-रैली, प्रदर्शन, ज्ञापन आदि।"

गुहा नियोगी ने कहा, “पारंपरिक मजदूर यूनियनों के संकीर्ण और अर्थवादी दृष्टिकोण में कारखाने की चारदीवारी से बाहर एक मजदूर की जिंदगी के बारे में कोई भी रचनात्मक सोच-विचार है ही नहीं, लेकिन हमने ऐसा किया। हमने पता लगाने की कोशिश की है कि एक पुरुष और महिला को अपनी जिंदगी को स्वस्थ, प्रगतिशील और सुंदर बनाने के लिए कौन-कौन-सी चीजों की जरूरत है।

जब तक वे जिंदा थे, उन्होंने आदिवासियों के दिल और दिमाग में संवैधानिक व्यवस्था में आशा और विश्वास की ज्वाला जलाए रखी। इसी कारण लोगों ने नियोगी को 'छत्तीसगढ़ के गांधी' की संज्ञा दी थी, और इसी के चलते उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया।

छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा (छमुमो) की विशिष्टता को समझाते हुए गुहा नियोगी आगे बताते हैं : “हमने मजदूरों के लिए उच्चतम वेतन की मांग रखी और वह मिल भी गया, लेकिन यह वेतन दारू पीने में खर्च हो गया। इसलिए हमें शराबबंदी आंदोलन शुरू करना पड़ा। गौर करें कि मजदूर यूनियन के परंपरागत मार्ग का यह कभी भी हिस्सा नहीं रहा। इसलिए हमें प्रेरणास्वरूप गांधीजी का रास्ता अपनाना पड़ा। हमने सभी वादों (इज्म्स) में निहित कल्याणकारी सिद्धांतों से कुछ-न-कुछ लिया है– मार्क्सवाद, गांधीवाद, लोहियावाद, आंबेडकरवाद। हमने उनका अध्ययन किया है, उनसे कुछ लिया है और अपनी जरूरतों के मुताबिक उनको यहां लागू किया है।”

पत्रकार और लेखिका रजनी बख्शी ने शंकर गुहा नियोगी पर एक सारगर्भित श्रद्धांजलि लिखी थी। उसमें राज्य के उस दमन का भी जिक्र था, जो गुहा नियोगी ने झेला था। आपातकाल के दौरान वे साल भर जेल में रहे, सरकार उन पर हमेशा झूठे और बेबुनियाद मुकदमे लगाती रही और अंत में, 48 वर्ष की उम्र में, 28 सितंबर 1991 को उद्योगपतियों के भाड़े के गुंडों द्वारा उनकी हत्या कर दी गई।

रजनी बख्शी याद दिलाती हैं कि गांधीजी की ही तरह, गुहा नियोगी 'समय से पहले पर्यावरणविद' थे। खदानों और कारखानों के इर्दगिर्द बहने वाली स्वच्छ और निर्मल जल वाली नदियों में प्रदूषण को लेकर वे सतर्क हुए और एक बेतुके बांध का विरोध भी किया। नियोगी ने अपने एक लेख में वन-प्रबंधन के लोकतांत्रिकरण और पानी तथा पर्यावरण को प्रदूषित करने वालों के खिलाफ सख्त कार्रवाई की मांग की थी। उन्होंने लिखा था कि “पर्यावरणीय विनाश के कारणों का हमें गहराई से विश्लेषण करना होगा। पर्यावरणीय मुद्दों पर चेतना को राष्ट्रीय स्तर पर समग्र तौर पर विकसित किया जाना चाहिए।” उन्होंने आगे लिखा था : “यूनियन के कार्यकर्ता जितने जागरूक होंगे, उतना ही वे भारत और

विश्व भर में पर्यावरणीय आंदोलन की समझ विकसित करने का प्रयास करेंगे। वे पर्यावरण आंदोलन के साथ भाईचारे की कड़ियां बनाने के लिए भी काम करेंगे और उसकी घटनाओं और गतिविधियों में यूनियन का प्रतिनिधित्व करने के लिए कार्यकर्ताओं और सामान्य सदस्यों को तैयार करेंगे।"

जंगलों पर गुहा नियोगी ने लिखाः "जब लोगों को यह महसूस होता है और वे जानते हैं कि जंगल सचमुच उनके ही हैं, तब प्रत्येक जन, यहां तक कि बच्चे भी उस पर निगरानी रखेंगे और जंगलों को बचा कर रखेंगे। जंगल चोरों को रोक दिया जाएगा और नकारा व गैर-जिम्मेदार अफसरों द्वारा पैदा की जाने वाली खामियां दूर की जाएंगी। जंगल जब सामूहिक हितों के संरक्षण का साधन बनता है तब सभी इसकी अवैध कटाई के लिए इस्तेमाल की गई कुल्हाड़ी के हर वार के खिलाफ संघर्ष करते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि सामुदायिक हितों की सुरक्षा से ही राष्ट्रीय हितों की रक्षा होगी और यह न केवल पर्यावरण की सुरक्षा करेगा, बल्कि मानव जाति के भविष्य को भी सुनिश्चित करेगा।"

नियोगी ने अपना लेख इस अमिट वाक्य के साथ समाप्त कियाः "सच तो यह है कि हमें अपनी पृथ्वी और अपने घर, दोनों को सुरक्षित रखना होगा। पेड़-पौधे, स्वच्छ पानी, शुद्ध हवा, पशु-पक्षी और मानव-जाति सब मिलकर इस दुनिया की संरचना करते हैं। संवेदनशील विचारों और लचीले कार्यक्रमों के जरिये हमें प्रकृति और विज्ञान के बीच के इस संतुलन को बनाए रखना होगा। यह लोगों की चेतना को विकसित करके और उसे आधार बनाकर ही संभव होगा।"

शंकर गुहा नियोगी के समय की तुलना में आज राज्य अहिंसक असंतोष के प्रति कम सहनशील और अधिक दमनकारी हो गया है। इस अंधेरे समय में भारतीयों के लिए यह अनिवार्य है कि ए. के. रॉय और नियोगी की याद को बनाए रखा जाए।

अपने संस्मरण में मनोरंजन बैपारी लिखते हैंः "नियोगीजी को किसी एक विचारधारा में बांध कर कबूतरों की तरह नहीं रखा जा सकता। वह मुश्किल ही नहीं, असंभव प्रयास होगा।" एक युवा आदिवासी नेता रवि टेलर ने बैपारी को नियोगी की मृत्यु के कारणों और परिणामों को समझाने का प्रयास किया : "जब तक वे जिंदा थे, उन्होंने आदिवासियों के दिल और दिमाग में संवैधानिक व्यवस्था में आशा और विश्वास की ज्वाला जलाए रखी। इसी कारण लोगों ने नियोगी को 'छत्तीसगढ़ के गांधी' की संज्ञा दी थी, और इसी के चलते उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। गांधी के साथ

भी तो ऐसा ही हुआ था! मजदूरों की न्यायसंगत मांगों को पुलिस और उद्योग माफिया की बंदूकों ने खामोश कर दिया। अब ये मजदूर अपनी शिकायतों को लेकर किसके पास जाएं?"

निष्ठा और साहस के संदर्भ में ए. के. रॉय और शंकर गुहा नियोगी एक ही पत्थर से तराशे गए अनमोल हीरे थे। कॉमरेड रॉय की तरह के मूल विचारक, जो किसानों और श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करना जानते हों, अब संसद में नहीं बैठ सकते। कुछ समय के लिए कोई दूसरा शंकर गुहा नियोगी भी पैदा नहीं हो सकता। शंकर गुहा नियोगी के समय की तुलना में आज राज्य अहिंसक असंतोष के प्रति कम सहनशील और अधिक दमनकारी हो गया है। इस अंधेरे समय में भारतीयों के लिए यह अनिवार्य है कि रॉय और नियोगी की याद को बनाए रखा जाए।

० हमारे दौर के प्रखर बौद्धिक रामचंद्र गुहा न केवल इतिहासकार हैं बल्कि वर्त्तमान नागरिक आंदोलन में शरीक भी हैं

(अनुवादः राजेंद्र सायल)

*

खतरे में है पत्रकारिता

○ पी. साईंनाथ

आजाद पत्रकार और पत्रकारिता हमेशा से खतरा रही है। सत्ता व संपत्तिधारी हरेक के निशाने पर ऐसा पत्रकार व ऐसी पत्रकारिता रहती है। लेकिन अब बहुत कुछ बहुत तेजी से बदल रहा है, बदल चुका है। इसलिए अब समय आ गया है कि अपनी खबरों के प्रहरी बनें हम

दिल्ली में एन. भास्कर राव की एक संस्था है– 'सेंटर फॉर मीडिया स्टडीज' (सीएमएस)। 32 सालों से यह मीडिया पर शोध कर रही है। इसके मुताबिक पिछले पांच साल में राष्ट्रीय दैनिकों के पहले पन्ने पर ग्रामीण खबरों की जगह का औसत है 0.67% है जबकि 2011 की जनगणना में ग्रामीण आबादी है 69%। इनको अखबार के पहले पेज पर 0.67% जगह दी जाती है तो सोचिए बाकी के पेजों पर क्या जाता है? प्रथम पृष्ठ का 67% नई दिल्ली को जाता है!

इस 0.67% का भी एक राज है। पांच सालों में एक साल चुनाव भी तो आता है, जब सबको जनता और गरीब और किसान और मजदूर याद आते हैं! यदि वह काल निकाल दें, तो आंकड़ा कुल 0.20% हो जाता है। पिछले 20 सालों में तीन दर्जन किताबें 'मार्केट इकोनॉमी' के बारे में लिखी गई हैं, जबकि ग्रामीण भारत पर मैं केवल एक नाम ले सकता हूं जयदीप हार्डिकर की 'चेज्ड बाइ डेवलपमेंट'।

यह तो हुई गांवों की बात, ग्रामीण पत्रकारों की देखें। पिछले दिनों तीन-चार रिपोर्टें आई हैं। 'कमेटी टु प्रोटेक्ट जर्नलिस्ट्स' (सीपीजे) की एक

रिपोर्ट निकली है जिसकी प्रस्तावना मैंने लिखी है। अलग-अलग खांचे में फिट पत्रकार, स्ट्रिंगर आदि में एक समानता है— 2013-14 तक जितने भी पत्रकार मरे या मारे गए हैं वे 100% कस्बाई और ग्रामीण पत्रकार हैं, उनमें बड़े शहरों के एलीट पत्रकारों में से एक भी नहीं है। 2013 तक सौ फीसदी हमले ग्रामीण और हिंदुस्तानी भाषाओं के पत्रकारों पर हुए, उनमें एक भी अंग्रेजी का पत्रकार नहीं है। बीते 15 साल में कुल 27 पत्रकारों की मौत हुई है। सीपीजे की रिपोर्ट का परिचय लिखने के दौरान मैंने एक-एक सूची देखी और यह समझने की कोशिश की कि पत्रकारों पर हमले इतने क्यों बढ़ गए? एक तथ्य यह उभरा कि देश का सारा कॉरपोरेट माइनिंग में, 'सेज' (एसईजेड) में, भूमि अधिग्रहण में लगा हुआ है। सरकार उनके साथ हैं। जहां जमीन पर यह सब हो रहा है, वहां इसे कवर कौन कर रहा है? हमारा ग्रामीण पत्रकार! कॉरपोरेटाइजेशन में खबर ही रेवेन्यू का माध्यम बन गई है।

मीडिया से शिकायत करना आसान होता है और अक्सर शिकायत जायज भी होती है। जब तक खबरों का खर्चा आप नहीं उठाएंगे, खबरें कॉर्पोरेट और राजनीति के दबाव में आपके हितों से समझौता करती रहेंगी।

पत्रकारिता और मीडिया में पिछले बीस साल में बहुत बदलाव आया है। एक तो हम भूल गए हैं कि हिंदुस्तानी पत्रकारिता की परंपरा क्या है। भारतीय पत्रकारिता के 200 साल पूरे होने को हैं। हमारे देश का पहला अखबार राजा राममोहन राय का 'मिरातुल' था जो बंगाली में नहीं, फारसी में था। उस वक्त मुगल कोर्ट की भाषा फारसी थी। पहले ही दिन से 'मिरातुल' अखबार सती-प्रथा, विधवा-विवाह, कन्या भ्रूणहत्या, लड़कियों की शिक्षा आदि मुद्दों को लेकर निकला था। राजा राममोहन राय से शुरू होकर यह मानवीय पत्रकारिता हमारी परंपरा थी।

आपने कभी सोचा है कि दुनिया में कितने पत्रकार हैं जिनके संग्रहित काम के सौ खंड प्रकाशित हुए हैं? दो ही ऐसे पत्रकार है— गांधी और आंबेडकर। इनके काम के सौ खंड छपे हैं। हम तो भूल ही जाते हैं कि ये दोनों पत्रकार थे। पिछले साल मैं पंजाब गया था। मुझे बहुत निराशा हुई कि वहां लोग यह तो जानते हैं कि भगत सिंह शहीद थे, यह भी कि वे राजनीतिक कार्यकर्ता थे लेकिन भगत सिंह एक पेशेवर पत्रकार थे यह किसी को याद नहीं आता। उन्होंने बारह से ज्यादा पत्रिकाओं में लिखा— चार में नियमित और चार भाषाओं में, पंजाबी, उर्दू, हिंदी और अंग्रेजी में लिखा।

पहले 'अकाली' पत्रिका में पंजाबी में लिखा, फिर 'अर्जुन' और 'प्रताप' में हिंदी में लिखा। उन्होंने कीर्ति में राजनीतिक लेखन किया। एक नौजवान ने चार भाषाओं में सैकड़ों लेख लिखे, जब तक कि मात्र 23 साल की उम्र में उसे फांसी दे दी गई। मैं बार-बार सोचता हूं कि मैंने तो 23 साल की उम्र में अपनी पत्रकारिता शुरू ही की थी। यह है पत्रकारिता की हमारी परंपरा!

पिछले तीस साल में क्या बदला है? पारिवारिक, निजी ट्रस्ट के हाथों से निकलकर मीडिया अब कॉरपोरेट की मालिकी में चला गया है। एक औद्योगिक घराने के पास सारा ईटीवी है जिसके 19 चैनल हैं। मीडिया के ऐसे कॉरपोरेटाइजेशन से ही ग्रामीण पत्रकारों की दिक्कतें शुरू हुईं। पत्रकारों की यूनियनों, संगठनों को खत्म किया गया। इसकी शुरुआत ठेके पर पत्रकारों को लाने से हुई। अब नौकरी नहीं रही, उसकी निश्चितता नहीं रही। हर 11वें महीने में आपको अगले 11 महीने की चिंता घेरने लगती है।

इस कॉरपोरेटाइजेशन में मीडिया पूरी तरह बदल गया। पत्रकारिता की समझ, पत्रकारिता का धर्म और कॉरपोरेट का दर्शन एकदम अलग है। पत्रकार खबर खोजता है, उसके सबूत जुटाता है। कॉरपोरेट पैसा व कमाई देखता है। उसकी दिलचस्पी पत्रकार की बढ़िया स्टोरी में नहीं है, स्टोरी से रेवेन्यू मिलेगा या नहीं, इसमें है। हम पत्रकारिता करते हैं, मीडिया धंधा करता है। मीडिया एक धंधा है, टीवी एक धंधा है, अखबार एक धंधा है, जबकि पत्रकारिता एक आह्वान है, एक पुकार है, पत्रकारिता एक दायित्व है।

पत्रकारिता में दूसरा बड़ा बदलाव 2013 में आया जब शहरी और एलीट पत्रकार भी निशाने पर आए। इनमें पहला नाम नरेंद्र दाभोलकर का है। आज भी उनकी हत्या का मामला हल नहीं हुआ है। सब जानते हैं कि दाभोलकर सिर्फ अंधविश्वास विरोधी एक्टिविस्ट नहीं थे, पच्चीस साल उन्होंने एक पत्रिका चलाई थी। दूसरे थे गोविंद पानसारे। वे कम्युनिस्ट पार्टी के लीडर थे, लेकिन इतिहासकार और स्तंभकार भी थे। तीस साल से वे कॉलम लिख रहे थे। उनको उनके घर के सामने मार दिया गया। इसके बाद एम.एम. कलबुर्गी की हत्या हुई। वे भी एक पत्रकार, अकादमिक विद्वान थे। कॉलम लिखते थे। चौथी हत्या एक हाइ प्रोफाइल पत्रकार गौरी लंकेश की थी। इन चारों के बीच समानता यह थी कि वे तार्किक विचारों को भारतीय भाषाओं में लिख रहे थे। ध्यान रखिए,

पत्रकारिता के अब दो स्कूल बन गए हैं– एक है पत्रकारिता, दूसरा स्टेनोग्राफी। अखबार और चैनल में सब स्टेनोग्राफी कर रहे हैं। जो मालिक बोलता है, वे लिखते हैं।

भारतीय भाषाओं में लिखने वाले पत्रकारों पर सबसे ज्यादा हमले हुए हैं। इस तरह की रिपोर्ट आप करेंगे तो एक तो प्लेटफार्म की दिक्कत आएगी कि इसे कौन छापेगा, दूसरा हमले की आशंका बनी रहेगी।

पत्रकारिता के अब दो स्कूल बन गए हैं— एक है पत्रकारिता, दूसरा स्टेनोग्राफी। अखबार और चैनल में सब स्टेनोग्राफी कर रहे हैं। जो मालिक बोलता है, वे लिखते हैं। इस संकट के बीच आखिर ग्रामीण पत्रकार कैसे अपना काम करे? आपको अपना एक प्लेटफॉर्म और एक नेटवर्क बनाना चाहिए। सहकारी मॉडल पर वेबसाइट बने। वेबसाइट चलाना अखबार से सस्ता है।

सुरक्षा के लिए पत्रकारों का एक नेटवर्क बने। यूनियन को रिवाइव करें हम, ताकि अगर कुछ हो तो देश के हर पत्रकार को 24 घंटे में उसका पता चले। मेरे लिए ग्रामीण पत्रकार बहुत अहम हैं। इसीलिए मैं एडिटरशिप छोड़कर, ग्रामीण पत्रकारिता में आया। मीडिया से शिकायत करना आसान होता है और अक्सर शिकायत जायज भी होती है। जब तक खबरों का खर्चा आप नहीं उठाएंगे, खबरें कार्पोरेट और राजनीति के दबाव में आपके हितों से समझौता करती रहेंगी।

पराड़कर स्मृति सभागार, वाराणसी में 2019 में दिए गए व्याख्यान से।

*

गतिशील चिंतन

○ हजारी प्रसाद द्विवेदी

गतिशील नहीं हुआ तो वह चिंतन ही नहीं हुआ– ठहरा हुआ पानी नदी बन सकता है, नदी नहीं बना सकता? इसलिए गतिशीलता, जो इस पुण्यभूमि भारतवर्ष को साथ लेती हुई गांधी तक पहुंची है, किसी अभूतपूर्व-अश्रुतपूर्व कल्याण तक पहुंचना चाहती है

स्टेशन की सीमा से बाहर निकलते ही एकाश्ववाही रथों के अनेक चाबुकधारी सारथी धावा बोल बैठे। एक भले आदमी ने चाबुकास्त्र को बगल में दबाते हुए हाथ का सूटकेश खींच लिया। मैं अभी कुछ कहने जा ही रहा था कि एक दूसरे भीमकाय पुरुष पुंगव ने ललकारते हुए उसे एक धक्का लगाया, 'खबरदार!... मेरी सवारी है!' हुंकार के साथ उसने पूर्वतन दस्यु को 'युद्धं देहि' की चुनौती दी फिर मेरी ओर घूमकर बोला, "बाबूजी, सलाम! इस बार तो बहुत दिन पर दरसन भया सरकार!" मैंने देखा, मेरा पुराना परिचित एक्केवान है। बोला, "हां भई, तीन वर्ष पर लौट रहा हूं। कुसल-छेम तो है न।"

"मेहरबानी है हजूर, आपकी दया से सब आनंद मंगल है।"

पूर्वतन दस्यु पहले तो कुछ गुर्राया, बाद को रंग-ढंग देखकर एकाध पुरुष वाक्यवाण के निक्षेप के बाद युद्ध से निरस्त हो गया। मेरा सारथी आगे-आगे चला, मैं पीछे हो लिया। एकाश्व-रथ सुसज्जित तैयार था। उसके छत्र और दंड यथेष्ट जीर्ण थे पर पिछले दस वर्ष से वे मेरे परिचित हो गए थे। मैं रथी रूप में आसीन हुआ, सारथी ने अश्व के साथ अपना पिता-पुत्र संबंध स्मरण करते हुए चाबुक संभाला।

नगर की सीमा पार करने के बाद मेरे रथ ने ग्राम-सीमा में प्रवेश किया। मुझे हजार-डेढ़-हजार वर्ष पहले की अवस्था याद आ गई। समुद्रगुप्त एक दिन इसी प्रकार रथ पर चढ़कर नगर से बाहर निकले होंगे। पौर-युवतियां गवाक्ष खोलकर अतृप्त नयनों से उन्हें देखती रह गई होंगी; नागरिक कन्या कतार बांधकर मार्ग के दोनों ओर खड़ी हो रही होंगी; आचार-लाजों और वेदाध्यायी ब्राह्मणों के उत्क्षिप्त मांगल्य से राजमार्ग भर गया होगा।.. मेरे लिए यह सब कुछ भी नहीं हुआ। समुद्रगुप्त के रथ में शायद चार घोड़े होंगे, उसके छत्रदंड में सुवर्ण और रत्नों का आधिक्य रहा होगा और उनका सारथी कुछ संस्कृत-प्राकृत जानता रहा होगा। मेरे रथ से उसका अंतर इतना ही भर रहा होगा।

सोलह वर्ष पहले इन्हीं गांवों में यह समाचार बड़ी तेजी से फैल गया था कि गांधीजी को अहमदाबाद में तोप से उड़ा दिया गया है और वे दिल्ली में लाट साहब के घर के सामने चर्खा कातते पाए गए हैं!

आज हजारों वर्ष बाद समुद्रगुप्त के देश का ही एक और आदमी रथस्थ होकर बाहर निकला है। समुद्रगुप्त सम्राट थे, मैं साम्राज्य का घोर शत्रु। फिर भी मैं वह आदमी था जो अदना होकर भी सारे जगत् के राजनीति-विशारदों को चैलेंज करने की हिम्मत रखता था। समुद्रगुप्त जब रथस्थ होकर बाहर निकले होंगे, तो दीप्त हृदय और कंपमान मस्तिष्क से छोटे-मोटे राज्यों का उच्छेद करने की बात सोचते जा रहे होंगे, मैं दीप्त मस्तिष्क से संसार के सबसे बड़े साम्राज्य को ध्वंस करने की बात सोच रहा था और कंपमान हृदय से भूख से तड़पती हुई असंख्य जनता के दुःख और दारिद्र्य का उन्मूलन करना चाहता था। फिर भी समुद्रगुप्त भारतवर्ष के अतीत सम्राट थे, मैं साम्राज्यविरोधी भावी सेना का अदना सिपाही। कवि एक दिन शायद इस अज्ञातनामा युवक के कीर्तिकलाप का भी चित्रण करेगा, उस दिन यह जवाहर-कवच, यह गांधी-मुकुट, यह अक्षय-तूणीर झोला, यह एकाश्वरथ, यह चाबुक-वाही सारथी; यह पौर-युवतियों के लीला-कटाक्ष से अवहेलित रथ-घर्घर, यह आचार-लाज-विरहित राजमार्ग, सब कुछ उसके कल्पना-नेत्रों के सामने खिंच जाएंगे। मैं समाजवाद के अग्निगर्भसंदेश का वाहक महारथी उसके सहानुभूति-शिशिर नयनवाष्प से स्नात होकर अत्यंत उज्ज्वल वेश में अंकित हो जाऊंगा।

मैं सोचता जाता था, मेरा रथ आगे बढ़ता जा रहा था। आखिर समाजवाद इतना प्रिय और आकर्षक सिद्धांत क्यों है? साथ ही मेरे मन में सवाल उठा, पेटेंट दवाइयां इतनी लोकप्रिय क्यों हैं? क्या इन दोनों में कोई

समानता है? किसी अखबार को खोलिए, उसके अधिकांश पन्ने दो ही प्रकार के संवादों से भरे मिलेंगे। कहीं पर समाजवाद के और कहीं पर पेटेंट इवाइयों के। साधारण जनता उलझनों में पड़ना नहीं चाहती, वह सस्ता और सहज मार्ग खोजती है। समाजवाद शायद ऐसा ही मत हो, पेटेंट दवाइयां शायद ऐसी ही दवाइयां हों। एक दिन जब भारतवर्ष में समाजवादी सरकार स्थापित हो जाएगी उस दिन शायद यह एकाश्वरथ न रहेगा, यह पाताल-पाती राजमार्ग शायद कुछ सुधर गया रहेगा, उस दूर की झोपड़ी में शायद विद्युद्वर्तिका का प्रकाश रहेगा। पर वह चीज क्या मिलेगी, जिसे सुख कहते हैं? कोई गारंटी नहीं। और फिर जिस दिन समुद्रगुप्त जानपद-बंधुओं के 'भ्रूविलासानभिज्ञ कटाक्षों' को धन्य करते हुए, ग्राम-वृद्धों को कुशल-प्रश्न से और घोष-वृद्धों के निकटवर्ती तरुगुल्मों का नाम पूछकर कृत-कृत्य करते हुए चले होंगे, उस दिन भी क्या वह चीज सुलभ थी? कुछ ठीक पता नहीं! कौन जानता है, क्या था और क्या होने वाला है! आज न समुद्रगुप्त का साम्राज्य है और न समाजवाद का रामराज्य! आज है इस निरुपाय निरन्न निर्वाक् मूढ़ जनता की बेतुकी भीड़— जो जीते हैं, इसलिए कि मौत नहीं आ जाती और मरते हैं इसलिए कि जीने का कोई रास्ता नहीं।

अचानक एक धक्का लगा; मेरी चिंता और शरीर दोनों में ही, पर रोमांच कहीं नहीं हुआ। सारथी ने कहाः सड़क बड़ी खराब है हुजूर! मैं हंसकर रह गया। साफ मालूम हुआ कि गुप्तकाल और अंग्रेजकाल में बड़ा अंतर है। ईश, वल्गा, छत्र, दंड, चक्र और रथ-घर्घर में परिवर्तन क्षम्य है पर धक्के में तो परिवर्तन असह्य है। हिमालय के उस विषम पार्वत्य-पथ पर एक दिन मातलि नामक कोई सारथी भी रथ हांक रहा था और यह मेरा सारथी भी एक अभ्रचुंबी और पाताल-पाती राजमार्ग पर अपना रथ हांक रहा है। उस दिन उर्वशी और पुरूरवा उस पर बैठे थे, एकाध और सुंदरियां भी रही होंगी, धक्का उस दिन भी लगा था, पर वहां शरीर और चिंता दोनों ही सिहर उठे थे, रोमांच, स्वेद और हत्कंप का एक साथ ही आक्रमण हुआ था। हाय, कौन जाने मेरे चरित्र-काव्य के भावी कालिदास को यह धक्का याद भी आएगा या नहीं। अगर आए तो समाजवाद के इस अग्रदूत का यह अपमानित, अवहेलित धक्का वह कभी नहीं भूलेगा। उसे अपने अग्निगर्भ-असंतोष

हे मेरे अभागे देश! तूने जिन कोटि-कोटि नर-नारियों का अपमान किया है, अधिक नहीं तो चिताभस्म के ऊपर एक दिन तुम्हें उन सबके समान होना ही पड़ेगा।

उद्‌गिरण करने वाले महाकाव्य में इस भयानक अनर्थ का चित्रण जरूर करना होगा। साम्राज्यवाद और 'बुर्जुआ' मनोभाव पर भी इसी बहाने उसे एक ठोकर जरूर मारते जाना पड़ेगा।

आज का कोई युवक यह नहीं कहता कि केवल वही सत्य बात कह रहा है, बाकी लोग या तो सारे संसार को या अपने आपको धोखा दे रहे हैं। पर सबके कहने का सारांश यही होता है। मैं भी इस बात को या इसी प्रकार की एक बात कहने का अभ्यस्त रहा हूंगा। इसीलिए उस दिन मैंने एक बार लिखा था कि उस आर्ट का मूल्य ही क्या हो सकता है जिसे समझने के लिए बीस वर्ष लगातार शिक्षा की आवश्यकता हो? ऐसी कला से उस कोटि-कोटि निरन्न निर्वस्त्र जनता का क्या फायदा है जिसके रक्त को चूसकर ही वे कलाकार और ये कला-कोविद मोटे हो रहे हैं! जिस नृत्यभंगी को समझने के लिए भरत और नंदिकेश्वर का अध्ययन करना पड़े उसमें वास्तव में जीव नहीं है, वह प्रगति विरोधी है, वह 'बुर्जुआ' मनोभाव को प्रश्रय देती है। कालिदास से लेकर रवींद्रनाथ तक सभी उसी निष्प्राण और 'बुर्जुआ' मनोभाव के पोषक काव्य-कला के कलाकार हैं! आज इस एकाश्ववाही रथ पर बैठने से मेरे मन में कुछ-कुछ सम्राट का आवेश संचरित हुआ होगा। शायद मेरे अवचेतन मन के समुद्रगुप्त ने आज मेरे चेतन मन को अभिभूत कर लिया होगा। आज मैं सोचता जा रहा था, क्या सचमुच कला भी गरीबों के लिए हो सकती है? समाजवाद गरीबों के लिए है या गरीबी के ध्वंस के लिए? वह जो चिथड़ों में लिपटी हुई ज्वराकांत बुढ़िया कराहती हुई हाथ में तैल-किट्ट-कलुष-शीशी लिये नगरी के चिकित्सालय की ओर भागी जा रही है, कल का निर्माण क्या उसी के लिए होगा? या मारिए गोली कला को, रामराज्य की भारी-भरकम भित्ति क्या इन्हीं मुर्दे कंधों पर स्थापित होगी? हरगिज नहीं। समाजवाद इन मूढ़ निर्वाक्, दलित, अपमानित, हीन-निर्वीर्य और तेजोहीन पुरुष और स्त्रियों का ध्वंस कर देगा अवश्य विशेषण को, विशिष्यमाण को नहीं। इन्हीं निर्वीर्य जनसमूह से तेजोदीप्त जनसमूह का अवतार होगा। पहले राम का अवतार, फिर रामराज्य की स्थापना!

'अब की बार तो सरकार को आप लोगों ने हरा दिया न हुजूर?'

दीर्घकाल के मौन को तोड़ने की इच्छा ही शायद मेरे एकश्ववाहीरथ के सारथी के इस प्रश्न का कारण थी। पिछले निर्वाचन में कांग्रेस ने इस प्रांत में सचमुच गर्व-योग्य विजय प्राप्त की थी। मैं बंगाल से आ रहा था। वहां के किसी मजदूर ने ऐसा प्रश्न नहीं किया था। इसलिए नहीं कि बंगाल का मजदूर कुछ ज्यादा बुद्धिमान होता है और वह ठीक जानता है कि निर्वाचन में जीतने या हारने से सरकार का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, बल्कि इसलिए

कि बंगाल में कांग्रेस की ऐसी जीत हुई ही नहीं थी, और इसलिए जन-साधारण में कांग्रेसवादियों ने बहुत अधिक विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। शायद इसका कारण यह भी रहा हो कि मैं बंगाल के जिस कोने से आ रहा था वह राजनीतिक केंद्र की अपेक्षा साहित्यिक केंद्र अधिक था। वर्तमान राजनीति का हो-हल्ला वहां कम सुनाई देता है।

टालने के लिए मैंने संक्षेप में जवाब दियाः देखते चलो भाई, अभी देर है!... मगर यह गरीब देखेगा क्या? इसे तात्कालिक राजनीति का कुछ भी तो पता नहीं, मेरे ही जैसे गांधी-मुकुटधारी किसी समाजवादी अदना सम्राट्(!) ने उसे निर्वाचन के पहले समझाया होगा कि अब मजदूरों का राज्य होने वाला है, बस, इसमें किसी कांग्रेस मनोनीत सदस्य को वोट देने भर की देर है! लेकिन मैं सोचता रहा, इस प्रचार का परिणाम भयंकर भी तो हो सकता है। कुसंस्कारों से आपादमस्तक लदी हुई, इस अशिक्षित जनता को समझाया भी क्या जा सकता है? कहते हैं, जमाना बदल गया है, आज का मजदूर और किसान कुछ तार्किक हो गया है, वह अपने पूर्वजों की तरह प्राचीन परंपरा को अपरिवर्तनीय विधान मानने को तैयार नहीं है। लेकिन कहां, तीन वर्ष के प्रवास के बाद आज लौट रहा हूं तो देखता हूं, अब भी हिस्टीरिया की दवा ओझे का डंडा है, मलेरिया में अभी भी लोहबान और लाल मिर्च का धुआं उपादेय समझा जाता है, गंडे-तावीज की अमोघता में कोई भी अंतर नहीं आया— सारी रेलगाड़ी तो इस बात का ही सबूत थी! और यह एक्कावान पूछता है कि सरकार की हार हुई या नहीं? सोलह वर्ष पहले इन्हीं गांवों में यह समाचार बड़ी तेजी से फैल गया था कि गांधीजी को अहमदाबाद में तोप से उड़ा दिया गया है और वे दिल्ली में लाट साहब के घर के सामने चर्खा कातते पाए गए हैं! आज भी इस प्रकार का समाचार उसी आसानी से फैलाया जा सकता है। आज जब मेरे सारथी ने सरकार की हार को विश्वास के साथ मान लिया है तो मैं सोच रहा हूं, तोप वाली बात में और मजदूरों के राज वाली बात में क्या कोई समानता नहीं है? दोनों ही आकाश कुसुम हैं!

लेकिन यह ठीक है कि यह राज्य-व्यवस्था, यह समाज-व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं टिकेगी। मजदूरों में बल संचय होगा। वे अपना अधिकार पावेंगे। हे मेरे अभागे देश! तूने जिन कोटि-कोटि नर-नारियों का अपमान किया है, अधिक नहीं तो चिताभस्म के ऊपर एक दिन तुम्हें उन सबके समान होना ही पड़ेगा। तुमने मनुष्य-देवता का अपमान किया है, वे तुमसे रूठ गए हैं। शत-शत शताब्दियों से पददलित यह असंख्य जनसमुदाय तुम्हें आगे नहीं

बढ़ने देगा। जो नीचे पड़े हैं वे पैर पकड़कर तुम्हारा चलना दूभर कर देंगे। अपमानित, अवहेलित, दलित और निष्पेषित के समान अगर तुम भी नहीं हो जाते तो तुम्हारा नाश अवश्यंभावी है। मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा कि मैं एक बज्रकपाट-पिहित अंधकाराच्छन्न कठोर किले में घुस रहा हूं। इसका भेद करना आसान नहीं। भावावेश में मैं मन-ही-मन रवींद्रनाथ का एक गान गाने लगा जिसमें बताया गया है कि 'ऐ अभागे, तेरी पुकार सुनकर अगर तेरा साथ देने कोई न आए तो अकेला ही चल; अगर सामने घोर अंधकार दिख पड़े तो वक्षस्थल की हड्डी खींचकर मशाल जला ले और अकेला ही चल पड़!!' मैं अपने को छिन्न-कार्मुक योद्धा की भांति दिग्मूढ़ नहीं पा रहा था; बल्कि अधिज्यधन्वा धनुर्धर की भांति निर्भीक आगे बढ़ रहा था। ऐ मेरे भाव कालिदास, भूल न जाना!

गंगा मैया लापरवाही से बह रही थीं। कुछ महीने पहले ही इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आसपास के गांवों के धनी-दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था।

फिर एक धक्का; मेरे सारथी ने कहा— बाबूजी, गंगा मैया ने रास्ता तोड़ दिया, थोड़ी दूर पैदल ही चलना होगा। 'बहुत अच्छा' कह कर मैंने अनुरोधपालन किया। मेरी दाहिनी ओर गंगा मैया लापरवाही से बह रही थीं। कुछ महीने पहले ही इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आसपास के गांवों के धनी-दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था। अब ये विश्रांत भाव से बह रही थीं। मैंने उनके अनजाने में ही एक बार प्रणाम कर लिया। मेरे मन में उस समय एक अटूट निरवच्छिन्न परंपरा के प्रति एक कोमल भाव रहा होगा। उस समय मैं एक बार याद करता था उन लाख-लाख अनुद्गतयोवना कुमारी ललनाओं को जिन्होंने अनादि काल से अभिलषित वर की कामना से गंगा मैया के इस स्रोत में लाख-लाख मांगल्यदीप बहा दिए होंगे। फिर याद आई मुक्तिकाम महात्माओं की, जिनके तपःपूत ललाट का असंख्य प्रणिपात गंगा की प्रत्येक तरंग ढोती जा रही थी। और अंत में याद आई गुप्तकाल की ललनाएं जिनके वदन-चंद्र के लोध्ररेणु से नित्य गंगा का जल पांडुरित हो जाता रहा होगा, जिनके चंचल लीला-विलास से वाह्य प्रकृति का हृदय चटुल भावों से भर जाता रहा होगा, गज-शावक उत्सुकता के साथ करेणुका को पंकज रेणु-गंधि गंडूषजल पिला दिया करता होगा, अर्द्धोपभुक्त मृणाल-खंड से ही चक्रवाक युवा प्रिया को संभावित करने लग जाता होगा, क्षण भर के लिए सैकतचारी हंसमिथुन पीछे फिरकर स्तब्ध

हो रहते होंगे। गुप्तकाल के वसंत काल में और आज के वसंत काल में कितना अंतर है? वह जो सामने अशोक नामधारी वृक्ष धूलिधूसर होकर जिंदगी के दिन काट रहा है, उन दिनों, आसिंजित-नूपुर चरणों के आधात का भी इंतजार नहीं करता था, वसंत देवता के आते ही कंधे पर से ही फूट उठता था। पर आज? आज की बात मत पूछिए। मुझे साफ मालूम हो रहा था कि गंगा के प्रत्येक बूंद के अंतस्तल में गुप्तकाल के आसिंजित-नूपुर की झनकार अनुरणित हो रही है। अब भी इसीलिए गंगा की तरंगे मस्त हैं, लापहरवाह हैं, सतेज हैं। उस नशे की खुमारी अब भी दूर नहीं हुई है। और हम मनुष्य कहलाने वाले जीव इतने गए-बीते हैं कि कुछ पूछो ही नहीं।

डिफीटेड मेंटेलिटी— पराजित मनोभाव! सामने दुर्भेद्य अज्ञान दुर्ग है; बाहर का शोषण और भीतर की लूट जारी है; और तुम गुप्त काल के स्वप्न देख रहे हो। इसे ही पराजित मनोभाव कहते हैं। आज का हरेक कवि, हरेक लेखक इसी पराजित मनोभाव का शिकार है। अंग्रेजकाल गुप्तकाल नहीं है; वर्तमान अतीत जैसा मोहक नहीं है। उज्जयिनी की अभिसारिकाएं न जाने कौन-सा वैराग्य उद्रिक्त करके अस्त हो गईं। आज बड़े-बड़े नगरों के वेश्यालय देश की समस्त नैतिकता, समग्र काव्य-कला, समग्र आचार परंपरा पर मानो बड़े प्रश्नवाचक चिह्न हैं। वर्तमान युग युवती विधवाओं द्वारा अभिशप्त है, अपमानित दलित सधवाओं द्वारा अवरुद्ध है, निरुपाय सामान्याओं द्वारा कलंकित है। इस असौंदर्य के ढूह में काव्यकला टिक नहीं सकती। साफ करो पहले इस जंजाल को, इस कूड़ा को, इस आवर्ज्जना को, इस अंधकार को।

वर्तमान युग युवती विधवाओं द्वारा अभिशप्त है, अपमानित दलित सधवाओं द्वारा अवरुद्ध है, निरुपाय सामान्याओं द्वारा कलंकित है। इस असौंदर्य के ढूह में काव्यकला टिक नहीं सकती। साफ करो पहले इस जंजाल को, इस कूड़ा को, इस आवर्ज्जना को, इस अंधकार को।

फिर मैं सोचने लगा— अतीत क्या चला ही गया? अपने पीछे क्या हम एक विशाल शून्य मरुभूमि छोड़ते जा रहे हैं? आज जो कुछ हम कर रहे हैं, कल क्या वह सब लोप हो जाएगा? कहां जाएगा यह? मैं किसी तरह विश्वास नहीं कर सका कि अतीत एकदम उठ गया है। मुझे साफ दिख रहा है, इसी गंगा की तरह मस्त भाव से बहती हुई शिप्रा की लोल तरंगों पर बैठे हुए कवि कालिदास उज्जयिनी के सौध-निहित वातायनों की ओर देख रहे हैं। हाय, कहीं मैं भी उनके साथ होता! शिप्रा की प्रत्येक ऊर्मियां अप्सराओं के

रूप में मुहूर्त भर को लीलायित करके लुप्त होती जा रही है। कवि के नयनों के सामने शत-शत विकच कमल किन्नरों के रूप में विकसित होते जा रहे हैं। तटभूमि पर कहीं अलकार्पित कर्णिकार, आगंड-विलंबि-केसर शिरीष, कहीं विस्रस्त-वेणीच्युता अशोक मंजरी, कहीं त्वरा-परित्यक्त लीला कमल अम्लान भाव से बिखरे पड़े हैं। मैं स्पष्ट देखता हूं- अतीत कहीं गया नहीं है! वह मेरे रग-रग में सुप्त है। ना, अतीत एक विशाल मरुभूमि कभी नहीं है!

सत्य क्या है? वे जो दो ग्वाल-वाल नग्नप्राय अवस्था में खड़े हैं, शरीर उनका अस्थि-पंजर-मात्र अवशिष्ट है, चेहरा उनका भारतवर्ष का नक्शा है— (दोनों गाल दोनों समुद्र और चिबुक कुमारिका अंतरीप!) पेट उनका सारे जगत का अनुकारी विशाल ग्लोब है— यही क्या भारतवर्ष है? यही क्या सत्य है? हे उच्छिन्न-वीर्य कंकाल-शेष भारतवर्ष, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूं, लेकिन मेरा मन यह नहीं मानना चाहता कि इन चर्म-चक्षुओं के सामने जो कुछ हिल-डोल रहा है वही सत्य है— 'जाहा घटे ताहो सब सत्य नहे!'

भारतवर्ष! उपयुक्त रास्ते पर सारथी के अनुरोध पर फिर रथारूढ़ होते हुए मैंने सोचा— हजार-हजार जातियों और उपजातियों में विभक्त, शत-शत साधु संप्रदायों द्वारा जर्जरीकृत, विविध आचार परंपरा का शतच्छिद्र कलश, भारतवर्ष!! यही क्या सत्य है? या विराट मानव महासमुद्र भारतवर्ष, जहां आर्य और अनार्य, शक और हूण, चैनिक और तुरुष्क, मुगल और पठान एक दिन दीप्तवीर्य होकर आए और सब भूलकर एक हो रहे? 'हे मेरे चित्त, भारत रूप इस महा-मानव-समुद्र के पुण्य तट पर स्थिर भाव से जगा रह।' कौन जाने किस विधाता ने, किन महारत्नों को मथ निकालने के लिए यहां उत्कट देवासुर युद्ध का विधान किया है? भारतवर्ष का अतीत उसके साथ है, वर्तमान उसके आगे है और वहां सुदूर उदयाचल के पास सुवर्ण-ज्योति झिलमिला रही है, वही उसके तेजोमय भविष्य की निशानी है। इसका प्रथम प्रकाश मेरे इस दुग्ध-धवल गांधी किरीट पर ही पड़ रहा है।

मेरा रथ अब गंतव्य पर आ गया!

(भारतीयता का परिपाक जिनमें मूर्तिमंत हुआ था वैसे पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह आलेख 'विचार और वितर्क' नामक संकलन से लिया गया है।)

*

टिप्पणियां

आधा ग्लास पूरा है

वह गर्विता गुलाटी है। आज वह 21 साल की है। तब 18 साल की थी जब उसने यह खबर पढ़ी थी कि समस्त जीवन का अस्तित्व जिस पानी पर टिका हुआ है और जिसकी मात्रा लगातार कम होती जा रही है, और जिसके बारे में कहा जा रहा है कि तीसरा विश्वयुद्ध यदि छिड़ा तो वह पानी पर स्वामित्व के सवाल को लेकर ही होगा, उस पानी का औसतन 140 लाख लीटर हम प्रति दिन बरबाद कर देते हैं। कहां होती है यह बरबादी? गर्विता ने जब आगे पढ़ा तो वह यह जान कर हैरान-परेशान रह गई कि यह बरबादी सिर्फ होटलों के उन ग्लासों में होती है जिनका आधा पानी हम पीते हैं और आधा वैसे ही छोड़ कर, बिल चुका कर निकल जाते हैं। यह आंकड़ा गर्विता को चुभ गया– मन में भी और दिल में भी! उसने अपनी यह चुभन अपने खास दोस्तों के साथ बांटी और 2016 में अपने 4 दोस्तों के साथ उसने एक कोशिश प्रारंभ की– नाम रखाः क्यों करें बरबाद!

आज गर्विता 23 साल की है। बंगलुरू में इंजीनियरिंग की पढ़ाई करती है, और देश के 80 हजार होटल उसके अभियान के साथी/सिपाही बने हैं। गर्विता कहती हैः "हमने होटल मालिकों को समझाया कि वे अपने ग्राहकों को जो पानी भरा ग्लास देते हैं, वह अधिकांशतः बरबाद जाता है। क्यों न वे अपने ग्राहकों को पूरे ग्लास की जगह आधा ग्लास पानी दें? यह समझाना आसान न था। होटल उद्योग की मान्यता रही है कि ऐसा करना ग्राहकों का असम्मान है। हम तुरंत ही समझ गए कि हमारा गलत सोच कितना खतरनाक है! अब सोच कैसे बदलें? लगा कि हमें होटल मालिक और ग्राहक दोनों से बात करनी होगी। हमने अपना नजरिया समझाने वाला एक छोटा-सा कार्ड बनाया और उसे होटलों के टेबल पर रखा। नतीजा सामने आया कि ग्राहक टेबल पर बैठा नहीं कि उसे पता चला कि वह पानी बचाने के एक अभियान का हिस्सा बन गया है। पानी बचाने के बारे में लोगों में जागरूकता तो है लेकिन क्या और कैसे पहल करें, यह कोई सोचता नहीं है। हमने उसे एक रास्ता बता दिया कि उसे करना कुछ भी नहीं है सिवा इसके कि होटल

में जब आधा ग्लास पानी मिले तो वह नाराज न हो, अपना अनादर न समझे और खुशी-खुशी आधे ग्लास पानी को पूरे मन से स्वीकार करे। हमने होटल मालिकों को समझाया कि आपका ग्राहक न नाराज होगा, न वापस जाएगा, न आपके बारे में दुष्प्रचार करेगा। हमारा कार्ड उसे आपको सादर स्वीकार करने की प्रेरणा देगा। आपको ध्यान यह रखना है कि जब भी उसका ग्लास खाली हो जाए, उसे फिर आधा भर दिया जाए। आधे ग्लास से बनी हमारी दोस्ती अब पूरी हो गई और यह हमारा रिश्ता निभ गया!" देश के 80 हजार होटलों में आज ग्राहकों का स्वागत आधा ग्लास पानी से किया जाता है।

गर्विता याद करती है कि यह सब इतना सरल नहीं था। काफी कुछ नया हमने सीखा, पुराना सीखा काफी कुछ हमने भुलाया; सार्वजनिक जगहों पर आधा ग्लास पानी के बारे में जागरूकता फैलाने के कितने ही कार्यक्रम किए; राष्ट्रीय रेस्तरां एसोसिएशन को साथ लिया। आज हम जहां पहुंचे हैं वह बहुत कम है। पानी के संकट को समझने और उसे टालने के लिए बहुत-बहुत कुछ करना है। 22 मार्च को विश्व पानी दिवस माना जाता है। उस दिन हम अपने अभियान का मेक्सिको केंद्र खोलेंगे। अमरीका, इंग्लैंड, ओमान में यह अभियान पहले ही पहुंच चुका है। आज हमारे अभियान के 45 करोड़ सदस्य हैं। हम एक 'एप' बना रहे हैं जो वैकल्पिक जीवन-शैली के बारे में लोगों को जागरूक करेगा। वह आपको यह भी बताएगा कि आपके आधा ग्लास अभियान का आज क्या नतीजा रहा और कहां, कितना पानी बचा। खेती का हमारा तरीका बहुत सारा पानी पीता है, बरबाद करता है। हमें लगता है कि सारी दुनिया में इंसानों को गेहूं और चावल खाने का रिवाज बदलना चाहिए और पूरे दानों वाले आहार लेने चाहिए। गेहूं और चावल उगाने और पकाने की पूरी प्रक्रिया बहुत पानी पीती है। अगर हम लोगों को पूरे दानों वाले आहार की तरफ मोड़ सकेंगे तो किसानी भी कुछ आसान बनेगी, पानी का संकट काफी कुछ कम हो सकेगा और एक नई जीवन-शैली भी उभर कर सामने आएगी।

आधा ग्लास कितने सारे सपने जगा गया है! ...और कुछ सपने तो इसने साकार भी कर दिए हैं।

एक पाकिस्तान यह भी!

नवंबर 2014 में मेरा चयन अमरीका में तीन सप्ताह की एक फेलोशिप के लिए हुआ। उसी दल में मेरी मुलाकात सिंध से आए एक बढ़िया इंसान से हुई। उसने अपना परिचय कुछ इस तरह दियाः "मैं सिंध का एक हिंदू हूं। मैं जीवन भर मुसलमानों के साथ रहा हूं। हम रमजान के दिनों में उनके साथ रोजा रखते हैं, मुहर्रम में हम हिंदू लड़के ताजिया का जुलूस ले

जाते हैं। यह संस्कृति हमें सूफी मत ने दी है।”

मैं हक्का-बक्का हो गया। एक हिंदू रमजान में रोजा रखता है या मुहर्रम के जुलूस को आगे बढ़ाता है, क्या यह सच है? हर साल पड़ने वाले सूखे की आपदा से निबटने की एक परियोजना के सिलसिले में मैंने अपने दोस्तों के साथ थरपारकर की यात्रा की। सड़क और रेल की 20 घंटे की कष्टदायी यात्रा के बाद मैं अतंतः छोटे-से, अलग दीखने वाले शहर में पहुंचा। यह शहर था मीठी! पाकिस्तान में कोई ऐसा शहर भी हो सकता है, यह कल्पना से परे था।

मीठी अपने नाम जितना ही मीठा है। यहां लगभग 80% आबादी हिंदू है। यह वह शहर है जहां मुसलमान हिंदुओं के प्रति आदर के कारण गाय नहीं काटते और मुसलमानों के रीति-रिवाजों की इज्जत कर हिंदू मुहर्रम के महीने में कोई उत्सव या शादी-ब्याह नहीं करते हैं। मीठी के हिंदू रमजान के दौरान मुसलामानों को बड़े प्रेम से खाना और पानी बांटते हैं। ईद और दीवाली में दोनों समुदाय एक-दूसरे को मिठाइयां बांटते हैं। यहां अपराध-दर सिर्फ 2 फीसदी है। धार्मिक असहिष्णुता की घटना होते किसी ने नहीं देखी है।

मीठी में लोगों से बातचीत करते हुए मैंने पाया कि यहां हिंदू मुहर्रम की मजलिस तैयार करते हैं। मैंने पाकिस्तान में कहीं और ऐसा होते नहीं देखा।

थार में रहने वाले एक मुसलमान ने बताया: “हमारे यहां हिंदू और मुसलमान कई दशकों से साथ रह रहे हैं। मैंने कभी एक दिन के लिए भी धार्मिक तनाव होता नहीं देखा। जब हिंदू मंदिर में पूजा कर रहे होते हैं तो कहीं लाउडस्पीकर पर अजान की आवाज नहीं आती; नमाज के वक्त मंदिर की घंटियां नहीं बजाई जातीं। रमजान के दिनों में कोई भी बाहर नहीं खाता और गांव के सभी लोग मिलकर होली मनाते हैं।”

सिंध के धार्मिक सौहार्द की कहानियां मैंने सुनी थीं लेकिन आंखों देखा तो आश्चर्यचकित हुआ। मीठी धार्मिक सौहार्द को एक नया अर्थ देता है। यही उनकी संस्कृति है। हर धर्म दूसरे धर्म से अलग है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनको मानने वाले अपनी अलग-अलग बस्तियां और चौहद्दियां बना लें। लोग साथ-साथ रह सकते हैं, धर्मांध नहीं रह सकते। ऐसी धर्मांधता हर धर्म में होती है। लेकिन यह भी एक पाकिस्तान है जिसे बचाना और बढ़ाना हम सबकी जिम्मेवारी है।

० हसन रजा

बोलिए!

क्या आपने कभी किसी का गला घोंटा है या ऐसी कोशिश की है? सवाल बचकाना है और आपका जवाब भी जाना हुआ है– “नहीं!” लेकिन यह सच नहीं है। हम-आप सभी अपने

पर्यावरण का गला घोंटते आए हैं और घोंट रहे हैं। अपनी नदियों और हवाओं का तो गला घोंटने का ठेका ही जैसे हमने और हमारी सरकारों ने लिया है। बिसलेरी की हमारी बोतलें ताजा पानी के लिए गैस चैंबर ही तो हैं। विकास की आंधी में हमने अपनी हवा को ही उड़ा दिया है! अपनी करीब 30% जमीन हमने मरुस्थल में बदल दी है। इसमें से 82% केवल आठ राज्यों– राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, जम्मू एवं कश्मीर, कर्नाटक, झारखंड, ओडिशा, मध्य प्रदेश और तेलंगाना में है।

एक नया अध्ययन कहता है कि प्रदूषित हवा हर साल 10 लाख असमय मौतों का कारण है। इसी के चलते हर साल 350,000 बच्चे दमे का शिकार हो जाते हैं। 24 लाख लोगों को हर साल सांस की बीमारी के चलते अस्पताल जाना पड़ता है। हिसाब बताता है कि इस कारण देश में हर साल 49 करोड़ काम के दिनों का नुकसान होता है ('डाउन टु अर्थ' के हवाले से)। सेंटर फॉर रिसर्च ऑन एनर्जी ऐंड क्लीन एयर और ग्रीनपीस की नई रिपोर्ट के अनुसार प्रदूषित हवा के कारण हर साल हमारी अर्थव्यवस्था को 15,000 करोड़ डॉलर (1.05 लाख करोड़ रुपये) का अतिरिक्त बोझ उठाना पड़ रहा है। यदि सकल घरेलू उत्पाद के रूप में देखें तो यह नुकसान कुल जीडीपी के 5.4% के बराबर है। हमारी नदियां मर रही हैं, क्योंकि पानी में ऑक्सीजन की मात्रा शून्य पर पहुंच गई है। आंकड़ों का यह कीड़ा निश्चित ही एक दिन में तो नहीं पनपा है। पेड़ हमें प्यारे हैं, लेकिन उनकी सांसें नहीं! गजब है न?

पश्चिमी सभ्यता की सोच रही कि प्रकृति को परास्त करके ही मनुष्य जी सकता है। इसलिए विकास की उसकी हर कोशिश से प्रकृति और उसके संसाधनों की हत्या हुई। भारतीय व पूरब की सभ्यता ने वन के पालने में अपनी आंखें पहली दफा मुचमुचाई थीं। घने वन शुरू के आर्यों को कभी आंधियों से तो कभी धूप से बचाते रहे। फिर आर्य सभ्यता ने प्रकृति के परिधानों से ही खुद को सज्जित करना सीख लिया। फिर यह सत्य ग्राह्य हुआ कि समत्व ही शक्ति का स्रोत है। पश्चिम जो नहीं पहचान सका उसे रवि बाबू ने इस तरह ग्राह्य बनाया: "प्रकृति और मनुष्य के ध्येय में कोई विषमता या विरोध है ही नहीं। यह समवायी साहचर्य है जो चिरंतन है।" उपनिषद का कथन 'प्राणो विराटः' भी यही कहने की कोशिश करता है।

आज जब सारी मानव सभ्यता असंतुलन से घिर गई है, हमें पर्यावरण संरक्षण की लड़ाई में वैज्ञानिक उपकरणों के अलावा एक परिपूर्ण दर्शन की आवश्यकता है। हमारे पास वह परिपूर्ण दर्शन होगा तब हम कह भी सकेंगे और पूछ भी सकेंगे कि प्राणदाता पेड़ ही नहीं रहेंगे तो मेट्रो को दौड़ा कर हम कौन-सी रेस में अव्वल आ जाएंगे!

गांधी ने मशीनों की मर्यादा बताई थी तब हमने उन्हें पिछड़ा बताया था और सारे मशीनदां 'सस्टेनेबल डेवेलपमेंट' की बात करते हैं तो क्या यह भी पहचान पाते हैं कि यही तो गांधी की बात थी। वे कह तो यही रहे थे न कि हीरे के दाम में कांच का ग्लास खरीदना विकास नहीं है। मशीनों का अमर्यादित उपयोग हमारे लोगों से उनका रोजगार भी छीनता है और हमारी प्रकृति को घायल भी करता जाता है।

छोटी-बड़ी हर बात को फिर से जांचने की जरूरत आन पड़ी है। जहां हवाई जहाज के बिना जाया जा सकता है वहां हवाई जहाज से न जाना वैज्ञानिक है। संयुक्त राष्ट्र संघ का पर्यावरण अध्ययन प्रकोष्ठ बताता है कि एक 24 घंटे लंबी फ्लाइट से इतना कार्बन निकलता है जितना अमरीका में साल भर में बिजली से कार्बन का उत्सर्जन होता है। यह आंकड़ा ही कितना भयावह है। शाकाहार कार्बन उत्सर्जन में 60% की कमी कर सकता है। एयरकंडीशनर का यथासंभव कम उपयोग प्रकृति को राहत की सांस देता है। आप नहाने में 20 लीटर पानी बहाकर पर्यावरण की चौपाई कैसे गा सकते हैं?

हमारी ज्यादातर समस्याएं ज्यादा पढ़ाई पढ़ गए समाज ने पैदा की है। इस ज्यादा पढ़े-लिखे वर्ग को यह याद ही नहीं रहता है कि उसे नहीं, तो समाज को तो कल भी जीना है; और कल जीना है तो आज का पर्यावरण उसकी जरूरत है। कल जीने के लिए सांस तो आज ही बचानी पड़ती है न! लेकिन हमारा ज्यादा पढ़ा-लिखा समाज आज की लड़ाई लड़ना भूल जाता है। माफ करिए, वह शायद देश विकसित करने में व्यस्त है और सोचता है कि चलिए कोई नहीं, पर्यावरण-संरक्षण का काम तो गाये-भैंसें भी देख लेंगी!! लोकबुद्धि की उपेक्षा करना और आज को 'भूलना' इस अति कर्तव्यनिष्ठ व पढ़े-लिखे समाज की प्रवृत्ति बन गई है। यह प्रवृत्ति स्वाथी भी है और अंधी भी। इसलिए बोलिए, सोचिए, समझिए क्योंकि आपकी हर चुप्पी एक पेड़ की हत्यारिन होगी। पर्यावरण- सुरक्षा हमारे होने की परीक्षा है।

० आयुष द्विवेदी

*

पत्र

कागज के रैपर में बंद, दुबली-पतली-सी गांधी-मार्ग के पैकेट को फाड़ने में मुझे हमेशा बड़ी हिम्मत जुटानी पड़ती है। यह लेख अच्छा लगा या यह ज्ञानवर्द्धक है, पहला भाव ऐसा नहीं आता है बल्कि यह पत्रिका हमेशा एक चुनौती फेंकती-सी लगती है। अगर हमने यह चुनौती पहचानी नहीं और स्वीकारी नहीं, तो काहे के पाठक! कइयों की तरह मैं भी अपनी मजबूरियों का हवाला दे लेती हूं लेकिन गांधी-मार्ग प्रश्नचिन्ह बनकर खड़ा ही रहता है।

मई-जून का अंक भी प्रश्नों से भरा है। देश के गांधीजन अपने छोटे-से दायरे में ही सही, कोरोना की चुनौतियों से जूझे, यह पढ़कर अच्छा लगा। रवीश कुमार ने हम मध्यम वर्ग के लोगों का सही आकलन किया है। अब खतरे न हमें लुभाते हैं, न डराते हैं और न फरेब ही हमें उकसाते हैं। पी.साईनाथ का विश्लेषण भी सटीक है पर विडंबना देखिए, लौटने वाले मजदूरों की गिनती भी पूरी नहीं हुई है, पांव के उनके छाले अभी ठीक से सूखे भी नहीं हैं और उन्होंने लौटना भी शुरू कर दिया है। निर्मम औद्योगिक व्यवस्था उन्हें फिर लील जाएगी और हम 'मिलॉर्ड' की गुहार लगाते रह जाएंगे। सोपान जोशी के लेख ने अचरज से भर दिया। उस लेख के साथ आपकी संपादकीय टीप इतनी सारगर्भित व मार्मिक है कि वह लेख का वजन भी बढ़ा देती है और उसकी चमक भी। इस अंक का जादुई वाक्य गांधी-जन वाली रिपोर्ट के अंदर दर्ज हैः क्रांति जोड़ से नहीं, गुणा से चलती है! जैसी परिस्थिति है उसमें जोड़ने से कहीं अधिक जरूरी है कि हमारे प्रयत्नों का गुणण हो। हमारी कसौटी अभी फिर-फिर होगी। देखिए, यह अंक फिर ऐसी चुनौती उछाल कर गया है।

- वंदना भारतीय, नई दिल्ली

मैंने तो कभी सोचा भी नहीं था कि गांधी-मार्ग यदि कोविड की भेंट चढ़ जाएगा तो आप ऑनलाइन का यह रास्ता इस तरह खोज लेंगे और हमें पत्रिका ऐसी नियमितता से पहुंचाएंगे कि हम भूल ही जाएंगे कि गांधी-मार्ग छप नहीं पा रहा है। अभी तक आपने दो अंक मुझे ऑनलाइन भेजे हैं और दोनों को पढ़ते हुए मुझे जैसा आनंद व संतोष मिला है, वैसा पहले कभी महसूस किया नहीं था मैंने। पहले गांधी-मार्ग भी एक पत्रिका थी जो मेरे पास चल कर आती थी। अब गांधी-मार्ग ही एकमात्र पत्रिका है जिस तक मैं पहुंचता हूं। वह कब, कैसे मेरे मेल पर आ जाती है पता भी नहीं चलता है, और मैं उसे पढ़ना शुरू कर देता हूं। अब

मुझे इसकी फिक्र भी नहीं होती है कि मैंने अंक साथ रखा या नहीं। यह मेरे साथ ही चलती है। मैं आपसे यह भी कहूं कि आपने इन दोनों अंकों का संयोजन इस तरह किया है कि जैसे गांधीजी आज के सवालों को लेकर हमारे साथ आ बैठे हों। दक्षिण अफ्रीका के प्लेग-संक्रमण की कहानी पढ़ते हुए मुझे बार-बार कोविड से लड़ते गांधीजी दिखाई दिए हैं। वे साथ न होकर भी इस कदर साथ हो जाते हैं कि मैं आश्चर्य में पड़ जाता हूं। इसमें आपकी संपादन-कला का पूरा हाथ है, यह मैं जानता हूं।

- धीरेंद्र कुशवाहा, गौतमबुद्ध नगर (उत्तरप्रदेश)

काका कालेलकर, महात्मा गांधी, विनोबा, राम मनोहर लोहिया, अनुपम मिश्र, नारायण देसाई आदि के लेख हमें मानव-धर्म का पाठ पढ़ाते हैं तो साथ-ही-साथ हमें अपने इतिहास से रू-ब-रू भी कराते हैं ताकि हमें यह भी पता चलता रहे कि हम क्या थे और किस रास्ते चलते थे। गांधी-मार्ग के नवंबर-दिसंबर अंक में बी. जी. वर्गीज का 'हमारा मीडिया' और हिमांशु कुमार का 'यह चुप्पी खतरनाक है' जैसे लेख हमें आईना दिखाते हैं। मीडिया अपने तमाम रूपों, प्रिंट, इलेक्ट्रोनिक और सोशल मीडिया सहित सुरसा बन गया है। पता ही नहीं चलता कि वह हनुमान के साथ है कि राक्षस-सेना के साथ। अब तो यह तय करना भी मुश्किल हो गया है कि कौन हनुमान है और कौन राक्षस? गांधी की बात याद आती है जो स्वतंत्रता के पहले ही उन्होंने कही थीः हमें आज ही यह विचार करना होगा कि हमें स्वतंत्रता कैसी और किससे चाहिए। नहीं तो गुलामी ही स्वतंत्रता के रूप में फिर से आ जाएगी। उनकी बात अक्षरशः सही साबित हुई।

हम दो कारणों से चुप रह जाते हैंः स्वार्थ और भय। जब तक हम भय और स्वार्थ से मुक्त नहीं होते हैं, इसी प्रकार सताए जाते रहेंगे। राजा कोई भी हो कि सरकार जिसकी भी हो हम चुप रहे हो कमोबेश यही सब चलता रहेगा। गांधी ने यही किया था कि जनता के दिल से भय और स्वार्थ निकाल दिया था। वह दुख और कष्ट सहते हुए, जान और माल को भूल कर उनके पीछे हो गई थी। लेकिन स्वतंत्रता की रोशनी दिखी नहीं कि स्वार्थ ने अपना घर बना लिया। स्वार्थ और भय का चोली-दामन का साथ होता ही है। तो वहां से हम जो नरक-कुंड में गिरे तो गिरते ही चले गए। ऐसे लेख छाप कर हमें बराबर आईना दिखाते रहें। कहीं किसी दिल से तो भय निकले, स्वार्थ दूर हो। ज्योति से ही ज्योति जलेगी।

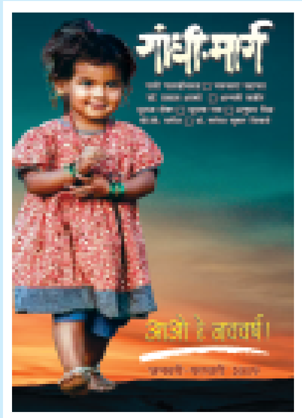
चलते-चलतेः शोभारानी गोयल का छोड़ना-पाना इतना पसंद आया कि बिना आप लोगों की इजाजत के इसे अपने ब्लॉग और फेसबुक पर पोस्ट कर दिया।

- महेश लोधा, कोलकाता (बंगाल)

...जाता वर्ष पूछता है...



'गांधी : 150' में क्या किया ?



- ☐ हर माह 'गांधी-मार्ग' का 1 ग्राहक बनाया?
- ☐ 'गांधी-मार्ग' पढ़कर संपादक को अपनी राय लिखी?
- ☐ अपना 'गांधी-मार्ग' किसी दूसरे को पढ़ने के लिए दिया?

गांधी-मार्ग

सिर्फ पत्रिका नहीं, गांधी विचार का हथियार है!
ऊपर के तीन कदम चलिए, गांधी के सिपाही बनिए!!

गांधी मार्ग का वार्षिक शुल्क

भारत में एक वर्ष के लिए 200 रु., दो वर्ष के लिए 350 रु.
आजीवन 1000 रु. (व्यक्तिगत), 2000 रु. (संस्थागत)

ऑनलाइन भी आप शुल्क दे सकते हैं :

खाता संख्या : 0158101030392

(केनरा बैंक, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2)

आईएफसी कोड : CNRB 0000158

- मुझसे न जाने कितनी बार यह पूछा गया है कि जब हमारी संख्या ही इतनी कम है तो फिर हम क्या कर सकते हैं? देखिए न, चरखा संघ में कातने वाले कितने कम हैं? सत्याग्रही कितने हैं? पक्के असहयोगी कितने हैं? शराबबंदी चाहने वाले भी कितने कम हैं?
- हम ठीक से विचार करेंगे तो हमें मालूम होगा कि संख्या में कुछ नहीं धरा है।
- सवाल तो यह है कि देश में सच्चे सत्याग्रही कितने हैं, सच्चे कातने वाले कितने हैं, सच्चे असहयोगी कितने हैं, सच्चे अर्थों में शराबबंदी चाहने वाले कितने हैं?
- अंत में तो दृढ़ चरित्र, निश्चय और साहस ही निर्णायक होंगे।
- कातना काफी नहीं है, जरूरी यह है कि भारत के दरिद्र लोगों की खातिर नियमित रूप से, मजबूत और एकसार सूत काता जाए। कताई परिश्रम का नहीं, आनंद का विषय होना चाहिए।
- मैं चाहता हूं कि कार्यकर्तागण संख्या की ओर ध्यान दिए बिना उस शक्ति के विषय में सोचें जो थोड़े से दृढ़ व लगनशील व्यक्तियों में होती है।

('स्वदेशी की ललकार' से साभार)

